जैन भारती

जुलाई, 2009 • वर्ष 57 • अंक 7 • वार्षिक रु. 200.00

'शासन-सेवी' श्री जुगराजजी सेठिया

'श्रद्धा की प्रतिमूर्ति' श्रीमती अमरती बाई सेठिया

की संघीय श्रद्धाभक्ति को समर्पित भाव-अनुभाव

राजकुमार • अभिनव • प्रतीक सेठिया

चैन्नई—कंटालिया

MARBLE MARVELS

1/96, Ponnamalle High Road, Nerkundram

CHENNAI 600107

Phone : 044-55373346

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

वर्ष 57 • जुलाई, 2009 • अंक 7

प्रसंग

7
शुभू पटवा
अध्यात्म की चौखट पर ढाई शती

विमर्श

11
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
ढाई शती का तेरापंथ : संघर्ष, रचना, परिणाम और प्रभाव

13
गुरु—कौन हो सकता है

26
डॉ. मथुरेशनंदन कुलश्रेष्ठ
स्वभावोक्ति : एक विमर्श

अनुभूति

33
युवाचार्यश्री महाश्रमण
आचार्यश्री भिक्षु : विराट ज्ञान-वैभव; मौलिक चिंतन

36
समणी डॉ. मंगलप्रज्ञा
आणाजुत्तो संघो सेसो पुण अत्थिसंघाओ

40
समणी डॉ. कुसुमप्रज्ञा
अंधेरी ओरी का प्रकाश

44
कहानी
भगवतीलाल व्यास
रिश्तों का व्याकरण

48
कविताएं
भवानीप्रसाद मिश्र की कविताएं

शीलन

51
समणी मधुरप्रज्ञा
चल पड़्या चरण मंजिल रे पथ

54
बालकथा
कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'
तीन बाल बोध कथाएं

•
आवरण
कमल श्रीमाली

संपादकीय पता : संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर • फोन : 0151-2270305, 2202505
प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
सदस्यता शुल्क : वार्षिक 200/- रुपये • त्रैवार्षिक 500/- रुपये • दसवर्षीय 1500/- रुपये

एकमात्र भीखणजी स्वामी ही हैं

टीकम डोसी कच्छ देश से पाली में आया। उसके अनेक विषयों में संदेह उत्पन्न हो गया था, उसे मिटाने के लिए।

तब अन्य संप्रदाय के श्रावकों ने कहा—टोडरमलजी तुम्हारे संदेहों का निवारण कर देंगे। तुम स्थानक में चलो। यह कह कर उसे स्थानक में ले गए। उसने टोडरमलजी से चर्चा की। उसे अपने प्रश्नों के संतोषजनक उत्तर नहीं मिले।

तब टीकम डोसी बोला—मेरे प्रश्नों का उत्तर देने वाले एकमात्र भीखणजी स्वामी ही हैं, कोई दूसरा मुझे दिखाई नहीं देता, यह कह कर वह अपने स्थान पर आ गया।

कुछ दिनों बाद स्वामीजी मेवाड़ से मारवाड़ पधारे। पहले सिरियारी आए। वहां से प्रस्थान कर संवत 1859 का चतुर्मास प्रवास पाली में किया। टीकम डोसी ने स्वामीजी से अनेक प्रश्न पूछे। स्वामीजी ने उनके उत्तर दिए। टीकम डोसी बोला—बंकचूलिका में कहा गया है, संवत 1853 के बाद धर्म का उद्योत होगा। इस वचन के अनुसार संवत 1853 से पूर्व साधु नहीं, ऐसी संभावना होती है।

तब स्वामीजी ने कहा—संवत 1853 से पूर्व साधु नहीं होंगे, ऐसा वहां नहीं कहा गया। यह कहा गया है कि धर्म का बहुत उपगार होगा। इस दृष्टि से धर्म के उद्योत की बात कही गई है। संवत 1853 से पहले उद्योत अल्प हुआ। उसके बाद उद्योत अधिक होगा। इस युक्ति से उसे समझा दिया।

स्वामी बताए तो तेले का प्रायश्चित्त

भारमलजी स्वामी बाल-मुनि थे, तब स्वामीजी ने कहा—'कोई गृहस्थ स्वामी बतलाए, ऐसा काम तुझे नहीं करना चाहिए। गृहस्थ स्वामी बतलाए, वैसा काम यदि तू करेगा, तो एक तेले का प्रायश्चित्त करना होगा।'

तब भारमलजी स्वामी बोले—'यदि कोई झूठ-मूठ स्वामी बतला दे, तो?'

तब स्वामीजी ने कहा—'कोई झूठ-मूठ स्वामी बतलाए, तो समझ लेना पहले किए हुए पाप उदय में आए हैं।'

भारमलजी स्वामी बड़े विनीत थे। उन्होंने स्वामीजी का वचन शिरोधार्य कर लिया। ऐसे विनीत और उत्तम पुरुष होते हैं, वे किसी को स्वामी बताने का अवसर ही कैसे देंगे?

•

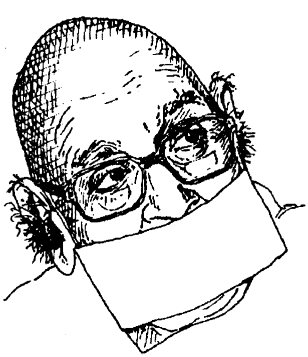

व्यक्ति का चित्त जितना निर्मल और सरल होता है, धर्म उतना ही अधिक उसके जीवन में फलीभूत होता है। भगवान महावीर ने यह बात इन शब्दों में कही है—'धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई'—धर्म शुद्ध आत्मा में ठहरता है। यहां आपको एक शंका हो सकती है कि जब धर्म स्वयं आत्मा की शुद्धि का साधन है, तब उसके जीवन में प्रवेश पाए बिना आत्मा शुद्ध कैसे होगी?

यह बिल्कुल ठीक है कि धर्म आत्म-शुद्धि का एकमात्र साधन है। धर्म को अपनाने से ही जीवन शुद्ध बनता है, पर साथ ही हमें यह तथ्य नहीं भूलना चाहिए कि धर्म को जीवन में टिकने के लिए पृष्ठभूमि के रूप में एक सीमा तक पवित्रता की अनिवार्य अपेक्षा है। यदि जीवन में प्राथमिक पवित्रता नहीं होगी, तो धर्म टिकेगा ही कहां? और जब उसे टिकने को ही स्थान नहीं, तब उसके द्वारा व्यक्ति के जीवन-शोधन की तो कल्पना ही कैसे की जा सकती है? इसलिए यह बात भली-भांति समझें कि धर्म के प्रतिबिंबित होने के लिए एक सीमा तक जीवन-शुद्धि अनिवार्य है। यह प्राथमिक जीवन-शुद्धि यदि नहीं होती है तो जीवन में धर्म को अंकुरित होने के लिए उपयुक्त उर्वरा ही नहीं मिल पाती। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि बहुत-से लोग धर्म की लंबी-चौड़ी बातें तो करते हैं, धार्मिक क्रियाकांड आदि भी करते हैं, पर धार्मिकता उनके जीवन को छू तक नहीं पाती। उनका व्यवहार धर्म के विपरीत चलता है। इसका कारण यही तो है कि क्रियाकांड आदि करते हुए भी धर्म टिक सके, उतनी प्राथमिक विशुद्धि उनके जीवन की नहीं हो पाई है।

—आचार्यश्री तुलसी

आदमी कमजोर रहना नहीं चाहता। वह शक्तिशाली बनना चाहता है। वास्तव में आदमी के भीतर अनंत शक्तियों का भंडार भरा पड़ा है। अपेक्षा है कि उन अनंत शक्तियों का प्रकटीकरण हो। आदमी के पास सब-कुछ है—ज्ञान शक्ति, चिंतन शक्ति, कर्म शक्ति आदि। वह विकास की अनंत संभावनाओं को उजागर कर सकता है, यदि अपनी शक्तियों को जागरूकता के साथ सही दिशा में नियोजित करे। शक्ति-संपन्न व्यक्ति वर्तमान में जीना जानता है, क्योंकि उसे अपनी क्षमताओं पर विश्वास होता है। जो व्यक्ति शक्ति, श्रम, समय और सोच के साथ कार्य-संपादित करता है—वह अपने जीवन को सार्थक कर सकता है।

इसलिए शक्ति-संपन्न होना जरूरी है। आदमी शरीर से सबल बने, ताकि रोग-तनाव आदि उसे प्रभावित न कर सकें। किंतु, शरीरबल से भी ज्यादा जरूरी है— मनोबल, संकल्पबल, संयमबल। यदि आदमी का मनोबल मजबूत है, दृढ़ संकल्प-शक्ति है और संयम के प्रति गहरी निष्ठा है, तो ऐसा कोई कार्य नहीं, जिसे वह न कर सके। व्यक्ति नई शक्तियों को जगाने का हर संभव प्रयास करे और प्राप्त शक्तियों का गोपन न हो—ऐसा संकल्प करे, तो वह अपने वर्तमान जीवन को अच्छा बना सकता है।

इसी तरह जहां क्रोध है, लोभ है, असहिष्णुता है—वहां व्यक्ति की शांति नष्ट हो जाती है। जहां परिवार में कलह होता है, व्यक्ति-व्यक्ति में असहिष्णुता होती है—वहां अशांति का वातावरण बन जाता है। सहिष्णु व्यक्ति ही शांत वातावरण का निर्माण कर सकता है।

—युवाचार्यश्री महाश्रमण

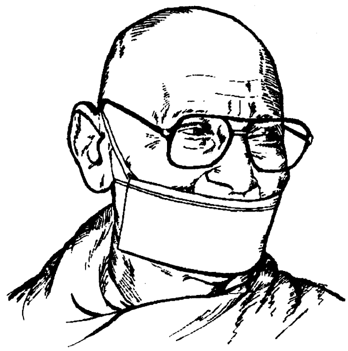

आत्म-कर्तृत्व की अवधारणा के अनुसार अपनी आत्मा ही सुख-दुख की कर्ता है, दूसरा कोई नहीं। दूसरा तो मात्र निमित बन सकता है। शास्त्रीय अवधारणा के अनुसार उपादान व्यक्ति स्वयं है। एक व्यक्ति विकास के पथ पर आगे बढ़ता है, उसमें उसके पुरुषार्थ का बड़ा योग रहता है। अपनी क्षमता और योग्यता के अनुसार उसका व्यक्तित्व निर्मित होता है। कर्मशास्त्रीय अवधारणा के अनुसार कर्म का अपना क्रम है। व्यक्ति जैसा कर्म करता है वैसा ही उसका फल भुगतना पड़ता है। व्यक्ति वैसा बनता है, जैसा कर्म किया हुआ है, किंतु पुरुषार्थ का भी अपना सिद्धांत है।

पुरुषार्थ के द्वारा कर्म को बदला जा सकता है, इसलिए कर्म की अपेक्षा वर्तमान संदर्भ में पुरुषार्थ का बड़ा मूल्य है। हमारे पुरुषार्थ का प्रयोग कैसा है? भाग्य को बनाने वाला है या भाग्य को विकृत करने वाला है—ये दोनों पुरुषार्थ पर निर्भर हैं। जिस व्यक्ति का वर्तमान का पुरुषार्थ अच्छा है, उसका भाग्य भी बढ़ता चला जाएगा। जिसकी जीवन शैली अच्छी नहीं है, उसका भाग्य भी बुरे में बदल जाएगा।

भाग्य निर्माण का बड़ा सूत्र है—पुरुषार्थ। पुरुषार्थ हमारी तीसरी आंख है। दो आंखों से देखने वाला कभी भाग्य का निर्माता नहीं बन सकता। वह एक आंख से प्रियता और दूसरी आंख से अप्रियता को देखता है। ये दोनों तत्त्व राग और द्वेष के प्रतीक हैं। भाग्य के निर्माण के लिए तीसरी आंख की जरूरत है।

यह तीसरी आंख समता और संतुलन की प्रतीक है। अहिंसा के विकास के लिए जिसे अपने भाग्य का विकास करना है, उसे अपने अंतश्चक्षु का उद्घाटन करना होगा।

धर्म की आराधना और साधना का लक्ष्य भी यही हो कि तीसरा नेत्र खुले, भीतर की ज्योति प्रकट हो। तीसरे नेत्र के उद्घाटन की साधना हर व्यक्ति कर सकता है। उस पर किसी का एकाधिकार नहीं है। जिसके भीतर करुणा है, संवेदना है, सहृदयता है—वह सत्य का साक्षात्कार कर सकता है। वही वस्तुतः अपने भाग्य का निर्माता बन सकता है।

तीसरी आंख का खुलना समता और अहिंसा का विकास है। जिस व्यक्ति के अंतर में समता के नेत्र का उद्घाटन हो गया है, उसके भीतर रागात्मक और द्वेषात्मक पक्ष का जागरण नहीं हो सकता। समता का नेत्र केवल समत्व को, निष्पक्षता को, संतुलन को संरक्षित करता है।

दो आंखों से व्यक्ति की जीवन-यात्रा चल सकती है, किंतु भाग्य का निर्माण नहीं किया जा सकता। अहिंसा के विकास के लिए भीतर की आंख खुलनी चाहिए। जब भीतर की आंख खुल जाती है, तब अंतःज्ञान विकसित हो जाता है।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

प्रसंग

अध्यात्म की चौखट पर ढाई शती

किसी ने नहीं सोचा था, स्वयं संत भीखणजी ने भी, कि एक संघ स्थापित होगा। वह हुआ और इस महीने की सात तारीख को यह 'तेरापंथ' संघ दो सौ पचास वर्ष पूरे कर रहा है। आषाढ़ की पूर्णिमा तेरापंथ का स्थापना दिवस है। संत भीखणजी ने खुद ही कहा है कि उनका इरादा ही नहीं था कि कोई संगठन खड़ा किया जाए। गृहस्थ छोड़ कर साधु जीवन अंगीकार करते हुए जो मन में था, बस वही पूरा हो—उनका यही इरादा था। यह नेक नियत संत भीखणजी की तब थी और तब भी यही नियत रही जब उन्होंने इसे 'तेरापंथ' कहा। 'मेरा' नहीं, 'तेरा'—'प्रभु! मैं तेरे पथ पर अग्रसर होता चला जाऊं।'—यही अविराम यात्रा निरंतर चल रही है, क्योंकि यह प्रभु के पथ पर चलने वाली यात्रा है। आज इसने 'ढाई शती' का सफर तय कर लिया है। यह यात्रा आज भी अनवरत अग्रसर है। इसके दस नियंताओं ने पीछे झांक कर देखा तो है, वह बस इसलिए कि आगे का मार्ग प्रशस्त होते चले जाने में अतीत के अनुभव सहायक होते जाएं, नए अनुभव कसौटी पर चढ़ते चले जाएं और हकीकत से सदा रू-ब-रू होते चले जाएं। किसी संगठन की सफलता और विकास के पथ पर निरंतर गतिमान होते चले जाने का यही 'फार्मूला' है।

तेरापंथ की इस कहानी को आचार्यश्री महाप्रज्ञजी (देखें पृष्ठ 11 पर) ने स्वयं उकेरा है। भूत, भविष्य और वर्तमान का दिग्दर्शन कराने वाली यह कहानी इतिहास का अभिलेख तो है ही, भविष्य की दृष्टि और दिशा-बोध भी है और यह भी कि 'ढाई शती' का मर्म क्या रहा, किन आध्यात्मिक-धार्मिक मूल्यों की बात 'तेरापंथ' के पटल पर की जाती रही है, की जानी चाहिए—ये सब बातें आचार्यश्री महाप्रज्ञजी स्पष्टतः बताते हैं और यह भी निस्संकोच बताते हैं कि इसका मूल्यांकन जिस वृहत्तर स्तर पर होने की जरूरत है, वह अभी होना शेष है।

एक सांप्रदायिक संगठन की छाप 'तेरापंथ' पर भी है, पर वह कितना सांप्रदायिक है और कितना असांप्रदायिक—यह उसके कार्यकलापों से तय करने की जरूरत है, न कि उसके बाह्य परिवेश से। तेरापंथ का समन्वयकारी दृष्टिकोण, जीवन विज्ञान, प्रेक्षाध्यान और अणुव्रत जैसे उसके प्रयोग, शिक्षा और संस्कृति के प्रति तेरापंथ का लगातार बढ़ता लगाव और इनके अनुशीलन का रुझान—हमें जो संदेश देता है, उस पर खुली और

व्यापक दृष्टि से विमर्श की आवश्यकता है। हमारे चिंतक और अन्वेषक इस दिशा में निश्चय ही सोचेंगे कि आखिरकार तेरापंथ का 'ढाई शती' का सफर किन आधारभूत निमित्तों पर चल कर तय किया जा सका। सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से तेरापंथ की ढाई शती के सफर के निष्कर्ष सामने आने जरूरी हैं, इसलिए कि लगातार विपन्न होती हमारी आस्था और कर्तव्यनिष्ठा को इससे एक 'टेक' मिल सकती है।

तेरापंथ के प्रयोगों को अब संकीर्णता के दायरे में रख कर देखना भी एक खतरनाक संकीर्णता है। यह खतरनाक इसलिए है कि ऐसा होना इसके लाभालाभ और गुणावगुणों की बारीक पड़ताल में बाधा है और इस तरह यह एक ऐसी अयथार्थ रुकावट है जो हमारे मानवीय मूल्यों को प्रभावित करती है।

आज मानवीय मूल्यों का ही संकट विषम है। हमारे मानवीय मूल्यों की जमीन जिस कदर दरक रही है और खाइयां जिस तरह बढ़ रही हैं—यह जरूरी हो जाता है कि जहां केवल इन्हें ही लेकर काम हो रहा हो, हम उस ओर देखें और उसकी तह तक पहुंचें। तेरापंथ ने मानवीय मूल्यों को सुदृढ़ आधार देने की कोशिश की है। यद्यपि उसका दायरा धीरे-धीरे बढ़ रहा है, पर सामाजिक विषमता के बुनियादी कारणों को उखाड़ने की दिशा में पिछले काफी समय से तेरापंथ ने अपने कदम बढ़ाने शुरू किए हैं। आर्थिक विषमता के चलते जो सामाजिक विद्रूपताएं हमारे सामने हैं, वे किसी से छिपी नहीं हैं। इनको जड़-मूल से उखाड़ने का काम तो नीति-नियोजकों और शासन के कर्णधारों पर है, पर इन जड़ों को झकझोरते रहने का काम सामाजिक स्तर पर किया जा सकता है। तेरापंथ ने ऐसा करना शुरू किया है।

तेरापंथ ने सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक मोर्चे पर ऐसी इकाइयां खड़ी की हैं जो नैतिक-आध्यात्मिक स्तर पर रचनात्मक रूप में क्रियाशील हैं। शिक्षा, स्वास्थ्य और रोजगार जैसे बुनियादी मुद्दों पर तेरापंथ ने न केवल समतामूलक वातावरण के निर्माण का काम किया है, व्यावहारिक स्तर पर जाकर सहकार के कदम भी बढ़ाए हैं। इन सबको गहराई और बारीकी से देखने और यथार्थ के तराजू पर तौलने की आवश्यकता है। यह आवश्यकता इसलिए है कि अन्यत्र भी ऐसे कदम उठाने वालों को इससे मार्गदर्शन मिल सकता है। यह तो नहीं कह सकते कि तेरापंथ को छोड़ कर इन स्तरों पर अन्य संगठन कुछ कर ही न रहे हों, अवश्य कुछ अच्छा हो ही रहा है—यह माना जाना चाहिए, पर कोई बुनियादी अंतर भी इनमें है क्या—यह देखना भी तो जरूरी है। जब तक बेलाग होकर यह नहीं देखा जाता, कहना मुनासिब नहीं होगा कि बुनियादी अंतर क्या है।

ढाई शती के सफर से यह तो सिद्ध हो ही गया है कि एक धार्मिक-सांप्रदायिक संगठन का बाना पहने रहते हुए भी कोई चाहे तो समता, समन्वय, सहकार और संपोषण जैसे बुनियादी मानव मूल्यों पर अपने को अग्रसर कर सकता है और सफलता के सोपान भी खड़े हो सकते हैं।

तेरापंथ ने अपनी इस सफलता में श्रमण महावीर के अनेकांतवाद के सिद्धांत को प्रमुखतः स्वीकार किया है। तेरापंथ ने माना है कि इन दो सौ पचास सालों में कोई अवसर ऐसा नहीं आया कि तेरापंथ ने खंडनात्मक नीति को अख्तियार किया हो। सदा सकारात्मक और मंडनात्मक दृष्टिकोण ही तेरापंथ का रहा है। वे इसमें भी महावीर के अनेकांतवाद के सिद्धांत की भूमिका प्रमुखतः स्वीकारते हैं। अतः यह जरूरी है कि हमारे अन्वेषक 'अनेकांतवाद' पर भी गहराई से अनुशीलन करें। कोटा (राजस्थान) का खुला विश्वविद्यालय (ओपन यूनिवर्सिटी) है तो भगवान महावीर के नाम से, पर महावीर के 'अनेकांतवाद' पर अनुशीलन करने वालों के लिए वहां कितना 'खुलापन' है—इस पर विचार होना जरूरी है। कोई कह सकता है कि अनुसंधान/अनुशीलन जैसे काम 'ओपन यूनिवर्सिटी' की हद में नहीं आते। तब यह विचार करना जरूरी है कि विश्वविद्यालय की 'हद' में इसे कैसे लाया जाए। और, यह केवल एक विश्वविद्यालय की बात नहीं, हमारे अन्य उच्चतर अध्ययन संस्थान भी क्या इस दिशा में न सोचें? उनको भी यह विचार करना चाहिए कि जो दर्शन व सिद्धांत मानवीय मूल्यों को ठोस आधार दे सकता है, उसके अनुसंधान/अनुशीलन के लिए सर्वत्र निर्बाध संभावनाएं उपस्थित हों।

तेरापंथ की ढाई शती का यह अवसर बहुत-कुछ सोचने और करने का अवसर देता है। इस अवसर का लाभ हम लेंगे—ऐसी अभीप्सा हर किसी की होनी चाहिए।

—शुभू पटवा

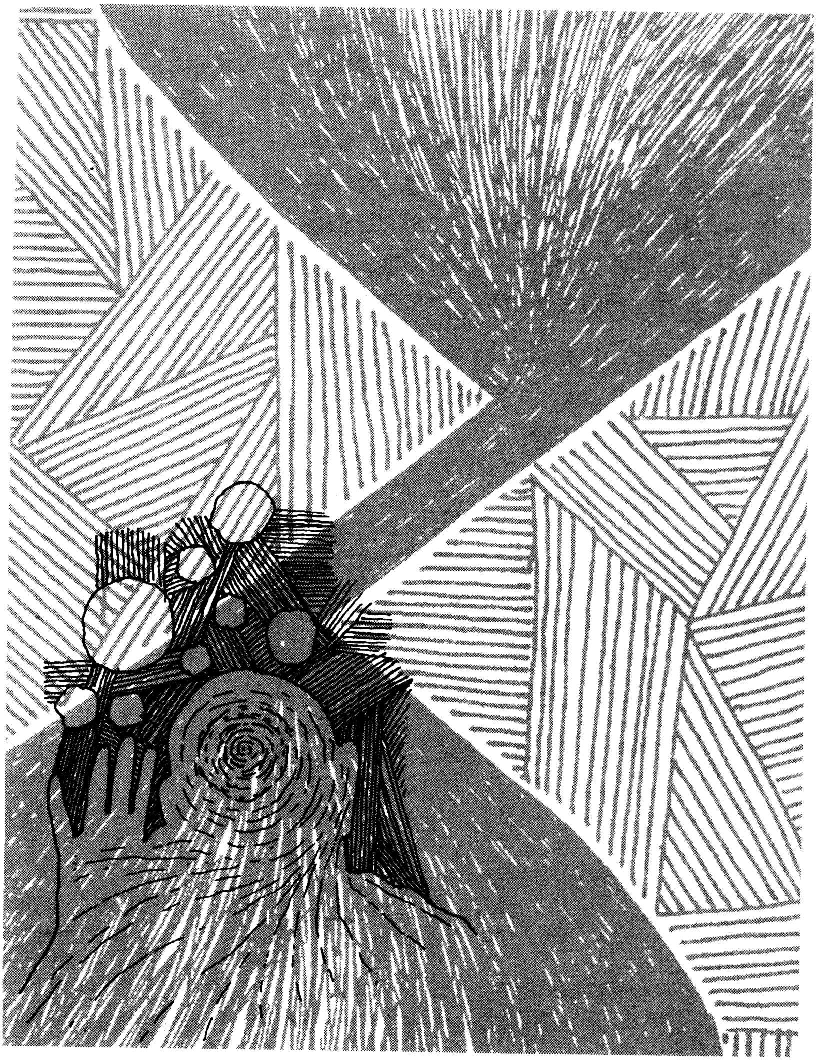

विमर्श

हम देखते हैं कि मनुष्य की आत्मा न शरीर है और न बुद्धि। वह संयोगज नहीं हो सकती। कारण यह है कि जो संयोगज है, वह दृष्ट और अनुभूत हो सकता है। जिसे हम न ध्यान ही में ला सकते और न देख ही सकते हैं, जो हमारे परिमाण में नहीं आ सकता है, वह न द्रव्य है न शक्ति, न कारण है न कार्य है—वह संयोग नहीं हो सकता है। संयोग का राज्य तो वहां तक ही है, जहां तक हमारे मन और बुद्धि के जगत का विस्तार है। इसके आगे संयोग हो नहीं सकता। संयोग तो वहीं तक है जहां तक नियम की प्रवृत्ति है, उसके आगे, नियम के अधिकार के बाहर यदि कुछ है—तो वह संयोग हो ही नहीं सकता। मनुष्य की आत्मा परिणाम के नियम के अधीन नहीं है, इसलिए वह संयोगज नहीं है। वह नित्य मुक्त और उन सबकी शासक है जो नियम के अधिकार में हैं। उसका नाश नहीं है, क्योंकि नाश तो घटक अंशों में लय होना है। जो संयोगज है ही नहीं, उसका नाश कहां? यह कहना कि वह नाश होता है, निरीमूर्खता की बात है।

—स्वामी विवेकानंद

ढाई शती का तेरापंथ—यह कहानी बता रहे हैं—तेरापंथ के वर्तमान नियंता आचार्यश्री महाप्रज्ञजी। यह कहानी हमें संघर्ष और रचना, परिणाम और प्रभाव के साथ-साथ भावी कल्पनाएं, आयाम और योजनाओं के बारे में भी सोचने के लिए काफी कुछ दे रही है। ढाई शती के तेरापंथ की इस मर्मस्पर्शी, उत्प्रेरणा से भरी कहानी को पढ़ने के बाद हमारे अध्येता, समाजशास्त्री और नीति निर्धारक भी यह सोच सकते हैं कि आखिर क्या है तेरापंथ की रीति-नीति, कि वह निर्बाध अग्रसर होता चला गया। प्रस्तुत है ढाई शती की यह विमर्शनीय कहानी—

ढाई शती का तेरापंथ : संघर्ष, रचना परिणाम और प्रभाव

आचार्यश्री महाप्रज्ञ

आषाढ़ पूर्णिमा का दिन गुरु-पूर्णिमा के रूप में सर्वत्र आदर के साथ स्मरण किया जाता है। इस दृष्टि से यह दिन परम पावन दिवस है। हमारे लिए तो यह दिन इसलिए भी परम पावन है कि हम इस दिन को तेरापंथ स्थापना दिवस के रूप में मनाते हैं।

तेरापंथ का स्थापना दिवस कैसे मनाएं? तेरापंथ में जीना, उस कल्पतरु की छांव में बैठे रहना, उसी से निकलने वाली प्राणवायु में श्वास लेना और उसके बारे में कुछ कहना बहुत कठिन है। जो रग-रग में, कण-कण और नस-नस में व्याप्त है—वह अनुभूति का विषय ही बन सकता है, उसे अभिव्यक्ति नहीं दी जा सकती। तेरापंथ का नाम अपने आप में एक अपूर्व और अद्‌भुत नाम है। पंथ को कभी बांधा नहीं जा सकता। तेरापंथ को भी कभी बांधा नहीं गया। यह अगर 'मेरापंथ' होता तो स्थिति कुछ दूसरी होती। 'तेरापंथ' का मतलब है—जो किसी का नहीं है। जो किसी का नहीं होता, वह सबका होता है। जो किसी एक का हो जाता है, वह सबका नहीं हो सकता। हमें उसके विधि-विधान पर विचार करना है।

हम यह भी सोचें कि तेरापंथ कहां है?

एक घटना का स्मरण हो रहा है। आचार्यश्री तुलसी

दिल्ली में प्रवास कर रहे थे। भारत की लोकसभा के एक कक्ष में उस दिन कुछ राजनेताओं से गुरुदेव का वार्तालाप हो रहा था। आचार्यवर ने कहा—'जिस मार्ग पर हम चल रहे हैं, उसका नाम तेरापंथ है।' —लोकसभा के तत्कालीन अध्यक्ष श्री अनंतशयनम आयंगर तेरापंथ की परिभाषा सुन कर तत्क्षण खड़े हुए और भाव भरे स्वर में बोले—'ओह गॉड! माई पाथ।'—लोकसभाध्यक्ष श्री आयंगर की वह भावमुद्रा मुझे आज भी याद है। उन्होंने कहा—'यह तो मेरा पथ है।'

तेरापंथ : संयम की पवित्रता

मैं सोचता हूं जो तेरापंथ है, वह तो मेरापंथ हो सकता है, पर जो मेरापंथ है—वह तेरापंथ नहीं हो सकता। तेरापंथ है, तब ही वह सबका पंथ हो सकता है। नाम का यह ऐसा जादू है, चमत्कार है कि जिसमें सब-कुछ समाता है। पर, यह तेरापंथ कहां है? प्रवचन पंडाल में है? केलवा में, मेवाड़ में? कहां है—तेरापंथ? हम एक सरल सी परिभाषा करें कि जहां आत्मा की पवित्रता है, जहां संयम है—वहां तेरापंथ है। वह लंदन में भी हो सकता है, मास्को और अमेरिका में भी हो सकता है। जहां आत्मा की पवित्रता है, संयम की पवित्रता है, वहां तेरापंथ है।

तेरापंथ आत्मा और संयम के आधार पर चला, इसीलिए वह शक्तिशाली बना। उसमें समस्या के समाधान की शक्ति पैदा हुई। आज पूरे विश्व में अध्यात्म का प्रतिनिधित्व करने वाला कोई एक धर्मसंघ है, तो वह तेरापंथ है। अध्यात्म की प्रथम पंक्ति में यदि कोई नाम सामने आता है, तो वह नाम तेरापंथ है।

मैं सोचता हूं जो तेरापंथ है, वह तो मेरापंथ हो सकता है, पर जो मेरापंथ है—वह तेरापंथ नहीं हो सकता। तेरापंथ है, तब वह सबका पंथ हो सकता है। नाम का यह ऐसा जादू है, चमत्कार है कि जिसमें सब-कुछ समाता है। पर, यह तेरापंथ कहां है? प्रवचन पंडाल में है? केलवा में, मेवाड़ में? कहां है—तेरापंथ? हम एक सरल सी परिभाषा करें कि जहां आत्मा की पवित्रता है, जहां संयम है—वहां तेरापंथ है। वह लंदन में भी हो सकता है, मास्को और अमेरिका में भी हो सकता है। जहां आत्मा की पवित्रता है, संयम की पवित्रता है, वहां तेरापंथ है।

तेरापंथ आत्मा और संयम के आधार पर चला, इसीलिए वह शक्तिशाली बना। उसमें समस्या के समाधान की शक्ति पैदा हुई। आज पूरे विश्व में अध्यात्म का प्रतिनिधित्व करने वाला कोई एक धर्मसंघ है, तो वह तेरापंथ है। अध्यात्म की प्रथम पंक्ति में यदि कोई नाम सामने आता है, तो वह नाम तेरापंथ है।

तेरापंथ का उद्भव और सामंतशाही युग

तेरापंथ का उद्भव इतिहास की एक विशिष्ट घटना है। कोई संघ या संप्रदाय तब जन्म लेता है, जब कुछ विशेष परिस्थितियां पैदा होती हैं। व्यक्ति के सामने तीन पहलू होते हैं—समाज, राज्य और धर्म। मनुष्य इन तीन आयामों में जीता है। तेरापंथ के उद्भव काल में समाज, राज्य और धर्म की क्या स्थितियां थीं? तेरापंथ को समझने लिए उन्हें जानना आवश्यक है। इन तीनों के संदर्भ में ही तेरापंथ के उद्भव को समझा जा सकता है।

उस समय इस प्रांत का नाम राजस्थान नहीं था। यह राजपूताना राज्य कहलाता था। इसमें अलग-अलग रियासतें (अलग-अलग राज्य) थीं। आचार्यश्री भिक्षु का जन्म मारवाड़ रियासत के जोधपुर राज्य में हुआ था। उसके एक ओर था—बीकानेर राज्य तथा दूसरी ओर था—मेवाड़ राज्य। इस तरह बीकानेर, उदयपुर, जयपुर, जोधपुर, ढूंढ़ाड़, शेखावाटी आदि अनेक रियासतें थीं। उनकी अपनी प्रभुसत्ता और उनके अपने अधिकार थे। उस युग को सामंतशाही का युग कहा जाता था, जागीरदारी और जमींदारी का युग कहा जाता था। बड़े-बड़े जमींदार, जागीरदार और राजा शासन करते थे। उनकी सत्ता सर्वमान्य थी। राजाओं का निरंकुश शासन चलता था। कोई लोकसभा और विधानसभा नहीं थी। राजा ही न्यायालय था, विधान बनाने वाला था और उन्हें क्रियान्वित करने वाला था।—**राजा कालस्य कारणम्**— यह धारणा सर्वत्र परिव्याप्त थी।

जैन धर्म : नेतृत्व का संकट

महावीर परिनिर्वाण के हजार वर्ष बाद जैन धर्म अनुशासन और नेतृत्व के संकट से गुजरने लगा। जैनों पर पहले शैवों का आक्रमण हुआ। उसके बाद शकों के आक्रमण हुए। बौद्धों ने भी अनेक प्रहार किए। अनेक संप्रदायों के आक्रमण सहते-सहते जैन समाज अस्त-व्यस्त हो गया। उसकी शक्ति क्षीण होने लगी। इस स्थिति में

जैन साधुओं का ध्यान शक्ति-साधना की ओर गया। उन्होंने देखा—ज्ञान, दर्शन और चारित्र की बात बहुत अच्छी है, पर शक्ति की साधना के बिना काम चलना संभव नहीं है। इसके बिना जैन शासन की रक्षा करना भी संभव नहीं है। उन्होंने मंत्र-साधना की ओर अपना ध्यान केंद्रित किया। मंत्र-सिद्धि के साथ-साथ यंत्र-तंत्र का विकास भी गति पाने लगा। जैन आचार्यों ने इन तीनों शक्तियों की साधना की और वे इनमें बहुत शक्तिशाली बन गए। इस क्षेत्र में अनेक ग्रंथों की रचना भी की गई। पर, नेतृत्व का संकट बना रहा।

सुविधावाद की ओर

मंत्र-साधना की ओर ध्यान केंद्रित होने से नई स्थिति पैदा हो गई और यह स्वाभाविक ही था। शक्ति की साधना जरूरी है, किंतु जब उसका अतिरेक हो जाता है और वह मात्र परिधि नहीं, केंद्र बन जाता है—तब ज्ञान, दर्शन और चारित्र में शिथिलता आ जाती है। जैन धर्म के साथ भी कुछ ऐसा ही हुआ। सिद्धसेन और समंतभद्र से लेकर उपाध्याय यशोविजयजी (17वीं शताब्दी) तक आते-आते ज्ञान का वर्चस्व बहुत कम हो गया। इधर ज्ञान की आराधना कम हुई और उधर चारित्र की आराधना में बहुत अंतर आ गया। इस स्थिति में जैन शासन में सुविधावाद पनपने लगा। साधु संस्था का झुकाव सुख-सुविधा की ओर बढ़ता चला गया, चारित्र की आराधना गौण हो गई।

अंधकार का युग और क्रांति

आचार्यश्री भिक्षु ने इन सारी स्थितियों को देखा। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि अंधश्रद्धा काम की नहीं होती। पर, वह एक प्रकार से अंध-श्रद्धा का युग था। व्यक्ति की अपनी कोई शक्ति नहीं थी, अपना कोई मानदंड नहीं था, अपना कोई तर्क नहीं था, अपनी कोई कसौटी नहीं थी। उस युग को अंधकार का युग माना जा सकता है। जिस समाज में स्वयं अपनी सोच न हो, समझ-बूझ न हो, वह कभी उन्नत और स्वस्थ समाज नहीं बन सकता। आचार्यश्री भिक्षु ने तब महान क्रांति की। एक दृष्टि से उन्होंने समाज को अंधकार से उबारा, एक नया चक्षु

गुरु—कौन हो सकता है

❑ आचार्यश्री महाप्रज्ञ ❑

आज का दिन गुरु-पूर्णिमा का दिन है। पूरे हिंदुस्तान में बहुत सारे धर्म-संप्रदाय गुरु-पूर्णिमा को पर्व के रूप में मनाते हैं। हमारे लिए भी गुरु-पूर्णिमा का यह दिन एक महती पर्व का दिन है। क्योंकि आज के दिन हमें एक गुरु मिला था। उन्होंने तेरापंथ का प्रवर्तन किया। किया या नहीं किया—यह गौण बात है, किंतु आज के दिन हमें एक गुरु मिला था और ऐसा गुरु मिला—जिसमें गुरु का गौरव था, गुरु की गरिमा थी,

गुरु-पूर्णिमा विशेष

गुरुत्व था। दुनिया में बिना गुरुत्व के बहुत से गुरु हैं, किंतु जिसमें गुरु की गरिमा हो, गौरव हो, गुरुत्व हो—ऐसा गुरु मिलना मुश्किल है। सौभाग्य से हमें वह गुरु मिला।

हम गुरु किसको मानें? आज बड़ी कठिनाई हो रही है। बहुत लोग कहते हैं—गुरु के बिना ज्ञान नहीं होता। यहां तक कहा गया—

गुरुर्ब्रह्मा, गुरुर्विष्णु गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुर्साक्षात् परं ब्रह्म तस्मै श्री गुरुवे नमः।।

कहां ब्रह्मा, विष्णु और महेश, और कहां आज का गुरु? मैं एक प्रश्न खड़ा करता हूं कि गुरु है कौन? क्या कोई बता सकता है—गुरु कौन हो सकता है?

गुरु की आधारभूमि है—आत्मा की पवित्रता। जिसकी आत्मा पवित्र है, वह गुरु हो सकता है। उसका समाधान है—संयम। जहां आत्मा की पवित्रता है और संयम है—वहां गुरु हो सकता है। आज दोनों की कठिनाई →

प्रदान किया, दृष्टिदान दिया। उन्होंने कहा—

काच तणा देखी मिणकला
अण समझू हो जाणे रतन अमोल।
ते निजर पड्या सराफ री,
कर दीधो हो त्यांरो कोड्या मोल।।

तेरापंथ जिन स्थितियों में जन्मा, वे विशेष स्थितियां थीं। उस समय के साधुओं में परस्पर सौहार्द बहुत कम था। वे एक-दूसरे की निंदा में लगे रहते थे। एक मुनि दूसरे के शिष्य को उससे दूर कर देता, उसका मन फटा कर उसे अपने साथ मिलाने की कोशिश करता और दूसरा मुनि उसके शिष्यों को अपनी ओर खींचने में लगा रहता। उन्हें एक-दूसरे की निंदा में संतोष मिलता था। आचार्यश्री भिक्षु ने इस स्थिति का चित्रण इन शब्दों में किया है— **परनिंदा में राता-माता, चित्त में नहीं संतोष**। उस समय शिष्यों की लोलुपता भी बहुत बढ़ी हुई थी। जैसे एक गृहस्थ में धन कमाने की लालसा प्रबल होती है, वैसे ही मुनियों में शिष्य बनाने की लालसा प्रबल बनी हुई थी। तत्कालीन साधुओं को कोई वैरागी—दीक्षार्थी दिखाई देता तो वे उससे कहते—दीक्षा लेना हो तो मेरे पास ही लेना। तुम्हें दूसरों के पास दीक्षा लेने का त्याग है—

दीक्षा ले तो मो आगे लीजै,
और कने दे पाल।
कुगुरु एहवां सूंस करावै,
ऐ चौड़े ऊंधी चाल।।

तेरापंथ के उद्भव काल में ऐसी अनेक स्थितियां साधु समाज में पनप गई थीं। अनुशासनहीनता, बिखराव आदि को इसी संदर्भ में देखा जा सकता है। आचार्यश्री भिक्षु ने जीवन-भर इन सबके विरुद्ध संघर्ष का संकल्प किया। अपनी अंतिम शिक्षा में आचार्य भिक्षु ने कहा—

सगलां रे साध नै साधवी, राखज्यो हेत विशेख।
जिण तिण ने मत मूंडज्यो रे,
दीक्षा दीज्यो देख देख।।

उनकी इस महत्त्वपूर्ण शिक्षा में तत्कालीन साधु समाज की परिस्थिति का स्पष्ट दिशा-निर्देश मिलता है।

तेरापंथ की नीति

तेरापंथ संघ की नीति क्या है? उत्तर है : हमारी

हो रही है। आचार्य सोमप्रभ ने बहुत सुंदर लिखा है—

अवद्यमुक्ते पथि यः प्रवर्तते
प्रवर्तयत्यन्यजनं च निस्पृहः।
स एव सेव्यः स्वहितैषिणा गुरुः,
स्वयं तरंस्तारयितुं क्षमः परम्।।

जो स्वयं निरवद्य मार्ग पर चलता है, कोई दोष नहीं, कोई पाप नहीं, कोई कांटा नहीं—बिल्कुल साफ-सुथरा निरवद्य पथ। वह पथ है—संयम का पथ, वह पथ है—अध्यात्म का पथ, वह पथ है—वीतरागता का पथ। जो व्यक्ति वीतरागता के पथ पर चलता है और दूसरों को वीतरागता के पथ पर चलने की प्रेरणा देता है, या चलाने की गति देता है—वह है गुरु।

राग-द्वेष बढ़ाने वाला कोई गुरु नहीं हो सकता। जो राग-द्वेष को बढ़ाते रहते हैं, लोगों को लड़ाते रहते हैं, वे गुरु कैसे हो सकते हैं? आजकल के अर्थप्रधान युग में ऐसा ही हो गया है। एक भ्रांति पैदा हो गई है—किसी ने बता दिया कि यह काम करो, तुम्हें धन मिल जाएगा। जिसने यह बताया, बस वही गुरु बन गया। पैसे के साथ गुरु जुड़ गया। जो भी थोड़ा कुछ साथ दे देता है, कुछ पैसा मिल जाता है, अच्छा धंधा चल जाता है—वही गुरु बन गया। यदि गुरु का स्थान इतना नीचा आ जाएगा, तो गुरु के गौरव की बात दुनिया में रहेगी नहीं।

गुरु को हमने सबसे ऊंचा माना है। जहां अर्थ और काम बिल्कुल नीचे रह जाते हैं—वहां गुरु होता है। जहां अर्थ और काम का झंझट है, जो उसमें फंसा हुआ है और दूसरों को फंसाता है—उसको गुरु कहना तो एक प्रकार से गुरु शब्द की अवमानना है, गुरु को नीचे ले जाना है। गुरु पथदर्शक होता है, पर वही गुरु पथदर्शक हो सकता है जो अपनी आत्मा की साधना करता है, संयम के रास्ते पर चलता है। संयम जिसका पथ है—वह गुरु हो सकता है।

आज जो-कुछ हो रहा है, उस पर हमें गंभीर चिंतन

→

संघीय नीति है—आचार, श्रद्धा और सिद्धांत। इन सबके बारे में आचार्यश्री भिक्षु ने जो पथदर्शन दिया, जो मर्यादाएं दीं और उत्तरवर्ती आचार्यों ने जिन्हें आगे बढ़ाया—विशेषतः श्रीमज्जयाचार्य और पूज्य गुरुदेवश्री तुलसी ने—जिनका विकास किया, विस्तार दिया—वे हमारी मूल आधारशिलाएं हैं। हम मर्यादा में विश्वास करते हैं। अनुशासन में विश्वास करते हैं। हमारी संघीय नीति का पहला सूत्र है—हमारा मर्यादा में विश्वास है। संघीय नीति का दूसरा सूत्र है—हमारा व्यवस्था में विश्वास है। संघीय नीति का तीसरा सूत्र है—हमारा संगठन में विश्वास है।

हम व्यक्ति से नहीं, संघ से जुड़े हुए हैं। जहां जुड़ाव होगा, एक में दो होगा—वहां अनुशासन की बात आएगी। हमारी सभाओं-संस्थाओं का यह कर्तव्य है कि वे इस पर गहराई से विचार करें। हम इस सचाई को कभी न भूलें कि जैन शासन में हम अपना विकास कर रहे हैं। भगवान महावीर, जिन-शासन और उसके बाद भिक्षुगण, तेरापंथ धर्मसंघ की छत्र-छाया में अपनी साधना कर रहे हैं।

मेरा धर्मसंघ

प्राचीन आगम साहित्य में साधु-संस्था के लिए तीन शब्दों का प्रयोग होता रहा है—कुल, गण और संघ। एक छोटा समुदाय—कुल, उससे बड़ा है तो—गण और उससे भी बड़ा है तो—संघ। हम संघबद्ध साधना कर रहे हैं। हमारे धर्मसंघ में केवल साधु-साध्वियां ही नहीं हैं, श्रावक-श्राविकाएं भी हैं। चतुर्विध धर्मसंघ है। इस धर्मसंघ पर साधु-साध्वियों का ही अधिकार नहीं है, श्रावक-श्राविकाओं का भी अधिकार है। एक खाट के चार पाए हैं। हम इनमें से छोटा-बड़ा किसे कहेंगे? सब समान हैं। मुझे यह कहने में संतोष होता है कि तेरापंथ धर्मसंघ की मजबूती में कुछ अर्थों में साधु-साध्वियों की अपेक्षा श्रावक-श्राविकाओं ने ज्यादा काम किया है। हम यह मानने की भूल न करें कि इस धर्मसंघ पर केवल साधु-साध्वियों का अधिकार है। साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका—सब अपने इस दायित्व का अनुभव करें कि यह मेरा धर्मसंघ है। इसकी सेवा

करना चाहिए। अर्थ और काम की प्राप्ति के साथ जो गुरुत्व की बात को जोड़ते हैं—वे आर्थिक हैं। वे धर्म की बात क्यों करते हैं? उन्हें धर्म का गुरु क्यों मानते हैं?

गुरु-पूर्णिमा के दिन हमें इस तथ्य पर सोचना चाहिए कि वास्तव में गुरु कौन हो सकता है? हमारा सौभाग्य है और हम एक सात्त्विक गर्व के साथ कह सकते हैं कि आज के दिन हमें एक गुरु मिला। वह गुरु मिला, जिसके परिपार्श्व में केवल एक ही बात थी और वह थी—आत्मा की पवित्रता।

धर्म कहां है?—जहां आत्मा की पवित्रता है। मोक्ष कहां है? —जहां आत्मा की पवित्रता है। आत्मा की पवित्रता के सिवाय कुछ भी नहीं है। उसका साधन है—संयम, त्याग। हम यह मान सकते हैं कि जो काम और अर्थ से ऊपर उठा हुआ है—वह धार्मिक गुरु है, धर्म का गुरु है। जो केवल स्वार्थपूर्ति और स्वार्थसिद्धि वाला है—वह गुरु कैसे हो सकता है? हम गुरु-पूर्णिमा के दिन केवल गुरु के गौरव की व्याख्या भर न करें, इस बात को भी समझें।

हमारे लिए गुरु-पूर्णिमा का यह दिन बहुत पवित्र दिन है। इसलिए है कि आज के दिन हमें त्यागी, तपस्वी, वैरागी, आत्मार्थी और संयमी गुरु मिला था। वह गुरु मिला था—जिसके सामने संयम ही मुख्य रहा, कोई व्यक्ति नहीं। किसी व्यक्ति की कोई अपेक्षा नहीं, कोई चिंता नहीं। जहां भी देखा कि संयम में कमी आ रही है, वहां साधुओं को अलग कर दिया। संख्या की कोई चिंता नहीं, चिंता केवल संयम की। चिंता केवल आत्मा की। आत्मा का शोधन करना है—यह बात सदा सामने रही। इस विषय पर जयाचार्यश्री ने, मुनि हेमराजजी स्वामी ने, मुनि वेणीरामजी स्वामी आदि ने बहुत लिखा है।

आचार्यश्री भिक्षु आत्मार्थी थे। उनके सामने केवल आत्मा थी, और कुछ नहीं था। आज हमारे सौभाग्य का दिन है कि इस दिन हमें ऐसा आत्मार्थी गुरु मिला। •

करना, मर्यादाओं का पालन करना, विधान का पालन करना मेरा परम कर्तव्य है।

धर्मसंघ : दो पक्ष

हमारे धर्मसंघ के दो पक्ष हैं—साधना का पक्ष और संगठन का पक्ष। साधना के पक्ष में प्रमुखता साधु-साध्वियों की है और वे साधना के पक्ष को आगे बढ़ाते हैं। स्वयं साधना करते हैं और दूसरों को साधना का पथदर्शन देते हैं, उनको साधना के पथ पर चलाते हैं। **णमोत्थुणं**—का महत्त्वपूर्ण पाठ है—**तिन्नाणं तारयाणं**—यानी स्वयं तरें और स्वयं की समस्याओं को सुलझाएं। साथ ही साथ दूसरों को भी तारें। दूसरों की समस्याओं को भी सुलझाएं। श्रावक समाज के लिए साधना का जो भी पक्ष है, वह भी कम नहीं है। वे भी साधना के द्वारा अपने जीवन की बहुत सारी समस्याएं सुलझा सकते हैं।

दूसरा पक्ष है—संगठन का पक्ष। संगठन पक्ष में श्रावक समाज का महत्त्व ज्यादा है। संगठन को कैसे मजबूत बनाए रखें, यह उनका सहज-स्वीकृत दायित्व है। आचार्यश्री तुलसी से लोगों ने अनेक बार कहा—'आचार्यजी! आपने अणुव्रत आंदोलन का प्रवर्तन किया है और आप असांप्रदायिक धर्म की बात कर रहे हैं, तो फिर आप तेरापंथ धर्मसंघ को छोड़ क्यों नहीं देते?'

आचार्यश्री तुलसी ने कहा—'कोई आदमी अपने घर को छोड़ देगा तो रहेगा कहां? कोई आधार तो चाहिए। आकाश में तो रह नहीं सकता।'—इस विषय में गुरुदेवश्री तुलसी बहुत स्पष्ट कहते थे कि—'मैं धर्मसंघ में एक संप्रदाय से संबद्ध हूं। इसमें न तो कोई समस्या है और न कोई सांप्रदायिकता की बात है।'—हमारे धर्मसंघ की नीति है कि हम न तो किसी का खंडन करें, न किसी का तिरस्कार करें और न किसी का अपमान करें।

संघीय नीति : हमारे कर्तव्य

हमारे सबके साथ सद्भावना के संबंध हैं। हम सबसे सद्भावना से मिलते हैं। किंतु, धर्मसंघ को कमजोर करने वाली बात जब आती है, तो समझना जरूरी है। कहा जाता है कि आचार्यश्री सांप्रदायिक नहीं हैं, फिर अपने संप्रदाय को सुदृढ़ बनाने की बात क्यों कहते हैं? कोई बताए कि इसमें कौन-सी सांप्रदायिकता है? मैं अपने घर के छेद को मान्य नहीं करता। इसमें सांप्रदायिकता कहां से आ गई? अपने शक्ति-स्रोत के आधार को मजबूत रखना मेरा दायित्व है। आचार्यश्री तुलसी ने जो दायित्व मुझे सौंपा, जो काम उन्होंने सौंपा है—मेरा परम कर्तव्य है कि उसमें कहीं भी कोई कमी न आए। हमारी आस्था और श्रद्धा कैसी होनी चाहिए—इसमें दूसरे का कोई लेना-देना नहीं है। न किसी से राग और न किसी से द्वेष। कहा भी है—

सज्जन ऐसा चाहिए, जैसे वन का केर।
न काहू से दोस्ती न काहू से वैर।।

कैर की भांति न किसी से दोस्ती, न किसी से वैर। किंतु, अपनी नीति के बारे में हमार चिंतन स्पष्ट होना चाहिए।

जैन श्वेतांबर तेरापंथी महासभा और अन्य सभी सभाओं के प्रतिनिधियों का कर्तव्य है कि वे सबको संघीय-नीति से परिचित कराते रहें। आगम का यह पद हमारे रोम-रोम में बसा होना चाहिए—**निस्संकिय, निक्कंखिय निव्वितिगिच्छा अमूढ़दिट्ठीय।** मुझे भगवान महावीर के युग की प्रसिद्ध श्राविका सुलसा का स्मरण हो रहा है। अपने कर्तव्यों की कसौटी के रूप में हम सुलसा की घटना को याद करें। उसके सामने कितने ही चमत्कार आए। देवता भी अनेक रूप बना कर आए। पर, सुलसा के एक रोम में भी विचलन नहीं हुआ। धर्म में उसकी पक्की श्रद्धा थी। निर्ग्रंथ प्रवचन में वह त्राण देखती थी। मैं मानता हूं कि धर्मसंघ में यदि त्राण की शक्ति नहीं है तो उसका कोई अर्थ नहीं है। धर्मसंघ प्राण और त्राण तभी बनता है, जब हमारी आस्था घनीभूत हो। हमारी आस्था घनीभूत होनी चाहिए। यह हमारा कर्तव्य है।

संगठन और अनुशासन

आचार्यश्री भिक्षु ने संगठन और अनुशासन के जो सूत्र दिए, उसके आधार पर आज कोई भी गर्व के साथ कह सकता है कि तेरापंथ धर्मसंघ पूरे विश्व में एक बेजोड़ संगठन है। यह कहने में कोई संकोच भी नहीं होना चाहिए। मैंने अनेक जैन आचार्यों को कहते सुना—यदि तेरापंथ जैसा संगठन हो जाए, तो हमारा कार्य भी बहुत आगे बढ़ जाए। मुझे याद है—दिल्ली में आचार्यश्री विद्यानंदजी के सान्निध्य में दिगंबर संप्रदाय की विशाल सभा थी। उस सभा में आचार्यश्री विद्यानंदजी ने कहा—'जब तक तेरापंथ जैसा संगठन नहीं होगा, हम बहुत विकास नहीं कर सकेंगे। कोई बड़ा काम नहीं कर सकेंगे।'—हमें इस बात का गर्व है कि आचार्यश्री भिक्षु ने संगठन के जो सूत्र दिए—उसके आधार पर हम चल रहे हैं और हमारा विकास हो रहा है।

संगठन के बिना किसी का कोई मूल्य नहीं होता। महत्त्व भी नहीं होता। इस प्रसंग में मंत्रीमुनि मगनलालजी स्वामी की बात बड़ी मार्मिक है। वे कहते—'मैं तेरापंथ धर्मसंघ में हूं, तो सब मगनजी-मगनजी कहते हैं, अगर तेरापंथ धर्मसंघ में न रहूं तो गली का कोई 'गंडक' (कुत्ता) भी नहीं पूछेगा।'—इस वाक्य को वे बार-बार दोहराते थे।

यह संगठन का पक्ष है। इस पर हमें पूरा ध्यान देना है। महासभा को, सभाओं को, कार्यकर्ताओं को और पूरे समाज को सोचना है कि जो अनुशासन हमें मिला है, संगठन मिला है—वह शक्तिशाली बना रहे। कभी कमजोर न हो।

तेरापंथ : असांप्रदायिक दृष्टिकोण

तेरापंथ की स्थापना का एक अर्थ है—असांप्रदायिक दृष्टिकोण की स्थापना। पूरे धार्मिक जगत के इतिहास की समीक्षा करें तो निष्कर्ष आएगा कि जितना असांप्रदायिक दृष्टिकोण आचार्यश्री भिक्षु ने प्रस्तुत किया, वह विरल है। भगवान महावीर ने सार्वभौम धर्म का उपदेश दिया था। उन्होंने इस सचाई को स्वीकार किया था कि धर्म को न सुनने वाला व्यक्ति भी केवली हो सकता है और एक मिथ्यादृष्टि भी देश-आराधक हो सकता है। यह महावीर की महान प्रस्थापना रही है, किंतु उत्तरकाल में ऐसा माना जाने लगा कि मिथ्यादृष्टि की करणी—तपस्या अच्छी नहीं है। जैन साहित्य में भी इस तथ्य को स्वीकृति मिलने लगी। आचार्यश्री भिक्षु ने इस अवधारणा पर कड़ा प्रहार किया। उन्होंने उदात्त स्वरों में कहा—'किसी भी धर्म या संप्रदाय को मानने वाले व्यक्ति की निरवद्य करणी धर्म है। उसका पवित्र आचरण मोक्ष का मार्ग है।' इस घोषणा ने तेरापंथ की स्थापना को एक असांप्रदायिक दृष्टिकोण की स्थापना बना दिया। इससे एक ऐसा दृष्टिकोण विकसित हुआ कि संप्रदाय में कोई आए या न आए, किंतु यदि उसका मन, वचन और शरीर शुद्ध है, आत्मा का परिणाम निर्मल है—तो वह सही अर्थ में धार्मिक है। इस दृष्टि से तेरापंथ की स्थापना को शुद्ध आध्यात्मिक धर्म की स्थापना कहा जा सकता है।

रचनात्मक दृष्टिकोण

तेरापंथ की स्थापना का दूसरा अर्थ है—रचनात्मक दृष्टिकोण की स्थापना। आज तेरापंथ की स्थापना हुए दो सौ पचास वर्ष हो रहे हैं। जैन समाज में अनेक संप्रदाय हैं, किंतु तेरापंथ ने किसी संप्रदाय-विशेष का उल्लेख कर कभी कुछ कहा या लिखा हो—ऐसा कहीं प्राप्त नहीं होता। यह तेरापंथ की मंडनात्मक नीति का परिणाम है, रचनात्मक दृष्टिकोण की फलश्रुति है। यदि तेरापंथ की शक्ति खंडन में लगती, विरोध और आरोप-प्रत्यारोप में लगती तो तेरापंथ का रूप कुछ दूसरा ही होता। जब-जब व्यक्ति निषेधात्मक भाव में जीता है, दूसरों के विरोध में अपनी शक्ति का नियोजन करता है—तब-तब वह अपना अहित करता है, अपने पैरों पर ही कुल्हाड़ी चलाता है। पर, तेरापंथ ने अपनी शक्ति का नियोजन सदा रचनात्मक कार्यों में किया है, कर रहा है। इसीलिए वह गतिशील बना हुआ है।

पहली शताब्दी : परीक्षात्मक दृष्टिकोण

हमें मानना चाहिए कि तेरापंथ की स्थापना का एक अर्थ परीक्षात्मक दृष्टिकोण की स्थापना भी है। आचार्यश्री भिक्षु ने धर्म के क्षेत्र में परीक्षा के रूप में जो कसौटियां प्रस्तुत कीं, जो मानदंड प्रस्तुत किए—वे धार्मिक जगत में आज भी मूल्यवान बने हुए हैं। तेरापंथ की स्थापना का सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक जगत में अनेक दृष्टियों से मूल्य रहा है, इनका व्यापक रूप से मूल्यांकन अभी नहीं हुआ है। उन दृष्टियों से उसका मूल्यांकन आवश्यक है। केवल तेरापंथ धर्मसंघ के गौरव के लिए ही नहीं, अपितु उसके पीछे जो दर्शन रहा है, जो व्याख्या और दृष्टियां रही हैं, उन्हें समझने के लिए भी तेरापंथ की स्थापना को समझना जरूरी है।

संघर्ष और रचना की शताब्दी

तेरापंथ की पहली शताब्दी संघर्ष और रचनात्मक स्थापना की शताब्दी है। पहाड़ पर जल बरसता है और बहता हुआ नीचे उतरता है—वह नदी का रूप ले लेता है। पहाड़ पर बहने वाला पानी सीधा ही नीचे नहीं आता है। उसके सामने अनेक बाधाएं आती हैं, रुकावटें आती हैं, चट्टानें आती हैं। उन चट्टानों को भेद कर, रुकावटों को मिटा कर ही पानी नीचे आ पाता है। जिस पानी के प्रवाह में वेग होता है, शक्ति होती है—वह चट्टानों और बाधाओं को चीर कर नदी के रूप में परिवर्तित हो जाता है। जिस पानी के प्रवाह का वेग कमजोर हो जाता है—वह अटक जाता है, भटक जाता है। वह चट्टानों को चीर कर नदी का रूप नहीं ले पाता। तेरापंथ के पीछे नियति का बल था, सन्मार्ग का बल था, जिनवाणी का बल था, बुद्धि का बल था, शुद्धि का बल था और आचार्यश्री भिक्षु के पुण्य का बल

था। इन सारे बलों ने एक वेग उत्पन्न किया, एक शक्ति पैदा की और तेरापंथ संघर्षों को चीरकर विकास के मार्ग पर बढ़ता चला गया। वह किसी संघर्ष के सामने झुका नहीं, रुका नहीं, निरंतर गतिशील और विकासशील बना रहा।

जिस दिन आचार्यश्री भिक्षु ने अभिनिष्क्रमण किया, व्यवधान का क्रम उसी दिन शुरू हो गया। एक सामाजिक उद्घोषणा की गई—'भीखणजी को रहने के लिए कोई स्थान नहीं देगा। यह श्रीसंघ की आण है।'—तब वे बगड़ी में थे। तब आचार्यश्री भिक्षु ने सोचा—अब बगड़ी शहर में स्थान प्राप्त नहीं होगा। अच्छा यही है कि हम यहां से प्रस्थान कर जाएं। उन्होंने वहां से विहार कर दिया। प्रकृति ने भी अनुग्रह नहीं किया और परीक्षा ली, उसने भी एक बाधा प्रस्तुत की और विहार होते ही एक भयंकर अंधड़ व तूफान आया। आचार्यश्री भिक्षु दूसरे गांव तक पहुंच सकें, ऐसी स्थिति भी समाप्त हो गई। ऐसा होता ही है। जब कसौटियां होनी शुरू होती हैं, तब एक के बाद एक कसौटी होती चली जाती है। प्रकृति की कसौटी पर भी स्वामीजी खरे उतरे। विहार हो चुका था। ऐसे में आचार्यश्री भिक्षु न गांव की ओर लौटे और न अगले गांव की ओर बढ़े। उन्होंने उस दिन का प्रवास श्मशान की छतरियों में करने का निर्णय ले लिया।

स्वामीजी ने श्मशान में पहला प्रवास किया। श्मशान तो अमर स्थान होता है। सभी मर जाते हैं, पर श्मशान अमर रहता है। वहां पहुंचने पर मृत्यु का भय भी समाप्त हो जाता है, व्यक्ति अभय बन जाता है।

सिद्धांतों की स्थापना

आचार्यश्री भिक्षु के सामने संघर्ष के अनेक स्फुलिंग उछलते रहे। उन्होंने जिन सिद्धांतों की स्थापना की, उनकी कसौटियां भी निर्धारित कीं। उन्होंने संयम और असंयम के आधार पर, व्रत और अव्रत के आधार पर अपने मार्ग का स्पष्ट निश्चय किया। जिस मार्ग पर चलने का संकल्प लिया, उसका स्वरूप भी निर्धारित कर दिया। त्याग धर्म है, भोग धर्म नहीं है। व्रत धर्म है, अव्रत धर्म नहीं है। आज्ञा धर्म है, अनाज्ञा धर्म नहीं है। उपदेश धर्म है, बल-प्रयोग धर्म नहीं है। धर्म अनमोल है, वह धन से प्राप्त नहीं होता। ऐसे स्पष्ट सिद्धांत और उनकी कसौटियां उन्होंने निर्धारित कीं और वे इन पर अग्रसर होते चले गए। आचार्यश्री भिक्षु के पूरे दर्शन और सिद्धांत को उपरोक्त मंतव्य में समेटा जा सकता है। उनका सारा दर्शन इनमें समाया हुआ है। आज्ञा, व्रत, संयम और त्याग उनके दर्शन की मूल आधार-भित्ति रही है। इस दर्शन और सिद्धांत की स्थापना में उन्होंने विशाल साहित्य रचा। उनकी प्रतिष्ठापना के लिए आचार्यश्री भिक्षु ने युक्ति, हेतु, बुद्धि, आज्ञा और तर्क का पूरा प्रयोग किया। वे कोरे बुद्धिवादी भी नहीं थे और कोरे श्रद्धावादी भी नहीं थे। उनमें श्रद्धा और बुद्धि, दोनों का समन्वय था। जिनवाणी पर उनकी अटूट श्रद्धा थी। उनके सामने जो एकमात्र प्रकाश था—वह महावीर वाणी का प्रकाश था। किंतु, इसके साथ-साथ उन्होंने तर्क का भी पूरा प्रयोग किया। अपने सिद्धांतों की स्थापना में उन्होंने जितने तर्क प्रस्तुत किए हैं, यदि उनकी व्यवस्थित रूप से प्रस्तुति दी जाए तो उनका एक नया रूप निखार पा सकता है। इस दिशा में कुछ प्रयत्न हुए हैं, किंतु उन्हें पर्याप्त नहीं कहा जा सकता।

तेरापंथ की पहली शताब्दी में मुख्यतः तीन आचार्यों का युग रहा—आचार्यश्री भिक्षु, आचार्यश्री भारमलजी और आचार्यश्री रायचंदजी। श्रीमज्जयाचार्य (आचार्यश्री जीतमलजी) पहली शताब्दी के अंतिम काल में तथा दूसरी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में तेरापंथ के क्षितिज पर उभरे। इस तरह तेरापंथ की पहली शताब्दी मुख्यतः तीन आचार्यों से जुड़ी हुई है।

तेरापंथ की पहली शताब्दी का समग्र विश्लेषण करें तो कहा जा सकता है कि तेरापंथ की पहली शताब्दी नए मूल्यों को स्थापित करने एवं पुराने मूल्यों को बदलने की शताब्दी थी। वह संघर्षों और कष्टों को शांति से झेलने की शताब्दी थी। वह समता, स्थिरता और धैर्य की शताब्दी थी। अगर ये सारी बातें नहीं होतीं तो तेरापंथ विकासशील धर्मसंघ नहीं बनता, उसका विकास-पथ अवरुद्ध हो जाता।

संविधान की लिखत

संघर्ष के इस युग में ही आचार्यश्री भिक्षु ने तेरापंथ का संविधान लिखा। जब नया संविधान लिखा जाता है, तब एक संविधान-परिषद की स्थापना की जाती है। बाद के काल में तेरापंथ में भी ऐसा क्रम चलता रहा है। किसी भी नए मुद्दे पर विचार करने के लिए दस-बीस चिंतनशील साधु-साध्वियों की गोष्ठी बुलाई जाती है और वे सब मिल कर विचार-मंथन करते हैं। उससे जो निष्कर्ष आते हैं, वे आचार्य के सामने प्रस्तुत कर दिए जाते हैं और आचार्य जो निर्णय देते हैं—वह संघ को मान्य होता है।

लेकिन, जब आचार्यश्री भिक्षु ने संविधान लिखा, तब

उन्होंने किसी से परामर्श नहीं किया। उस समय कोई परामर्श देने वाला था ही नहीं। उन्होंने पहला संविधान विक्रम संवत 1832 में लिखा और अंतिम संविधान 1859 में। इस बीच संविधान में परिष्कार होता रहा, नए मुद्दे जुड़ते रहे, किंतु, संविधान की मूलभूत धाराओं में कोई अंतर नहीं आया। वे धाराएं आज भी उसी रूप में प्रतिष्ठित बनी हुई हैं।

दूसरी शताब्दी का तेरापंथ

तेरापंथ की दूसरी शताब्दी का श्रीगणेश श्रीमज्जयाचार्य ने किया और उसकी परिसंपन्नता आचार्यश्री तुलसी ने की।

तेरापंथ की दूसरी शताब्दी निर्माण की शताब्दी है। जयाचार्यश्री ने निर्माण का युग शुरू किया। उन्होंने तेरापंथ को एक नया रूप दिया, आधुनिक रूप दिया। परिवर्तन का पहला बिंदु वेश-भूषा बना। आचार्यश्री भिक्षु से लेकर आचार्यश्री रायचंदजी तक तेरापंथ के साधु-साध्वियों का वेश पूर्व परंपरा का था। जिस समाज से क्रांति कर तेरापंथ जन्मा, वही वेश चल रहा था। जयाचार्यश्री ने वेश का परिवर्तन किया। परिशोधित व उपयुक्त मुख-वस्त्रिका और व्यवस्थित पछेवड़ी बांधने का क्रम शुरू हो गया। रजोहरण और प्रमार्जनी कैसे बनाना, पात्र कैसे बनाना, आदि-आदि बातों में कला और सौंदर्य का विकास होने लगा। पाश्चात्य दर्शन में तो सौंदर्य विकास की एक पूरी शाखा है। वस्तुतः दृश्य जगत में जो आता है, वह सौंदर्य ही है। व्यक्ति भद्दापन देखने का अभ्यस्त नहीं है। जयाचार्यश्री ने कला और सौंदर्य को परिष्कृत व आध्यात्मिक रूप प्रदान किया।

मर्यादा : व्यावहारिक रूप

आचार्यश्री भिक्षु ने संघ-व्यवस्था को एक नया रूप दिया था। उन्होंने कहा—मैं न्याय, संविभाग और समभाव की वृद्धि के लिए मर्यादाएं बना रहा हूं। जयाचार्यश्री ने आचार्यश्री भिक्षु कृत उन मर्यादाओं को प्रायोगिक और व्यावहारिक रूप प्रदान किया। पहले संविभाग की बात विधान में थी, पर व्यवहार में नहीं थी। व्यवहार में पुरुष-प्रधान व्यवस्था ही थी। पहले साधु-साध्वियां जो गोचरी लाते, उसमें से साधु अपने लिए रख लेते और बचा-खुचा साध्वियों को दे देते। ऐसी ही व्यवस्था और संस्कार बने हुए थे। जयाचार्यश्री ने इस व्यवस्था को बदला और उसे संविभाग एवं समत्व-प्रधान बना दिया।

इसी तरह साधु-साध्वियों का भी उस समय कोई व्यवस्थित क्रम नहीं था। आचार्यश्री भिक्षु ने यह विधान तो बना दिया था कि कोई साधु-साध्वी अपना चेला-चेली न बनाए। आचार्य के नाम से ही दीक्षा दी जाती थी। आचार्य की आज्ञा से ही दीक्षा दी जा सकती थी और दीक्षा देकर आचार्य का शिष्यत्व भी स्वीकार करवा दिया जाता था, किंतु दीक्षित व्यक्ति पर अधिकार दीक्षा देने वाले का ही रहता था। जिसके पास दीक्षा ली, वह उसी के पास रहता था। जयाचार्यश्री ने एक समीकरण कर दिया। नतीजतन आज प्रत्येक सिंघाड़े में चार या पांच साध्वियां हैं, दो-तीन या चार संत हैं और वे आचार्य द्वारा प्रदत्त या स्वीकृत हैं। उस समय ऐसा नहीं था। एक-एक व्यक्ति के पास दस-दस साधु और साध्वियां थे। जयाचार्यश्री ने इस परंपरा को बदल डाला।

किसी भी जमी हुई व्यवस्था को बदलना कितना कठिन होता है, हम सब इसे जानते हैं। पर, उन्होंने मनोवैज्ञनिक ढंग से व्यवस्था-परिवर्तन के मुद्दे को सहजता से समाहित कर लिया। हमारे सामने प्रश्न है कि जयाचार्यश्री का शासन कठोर था या मृदु? ऐसा लगता है—उनका अनुशासन इन दोनों से परे, किसी तीसरे तत्त्व से ही अनुप्राणित था। वे इतने प्रयोगात्मक ढंग से काम करते थे कि काम भी हो जाता और स्थितियां भी उग्र नहीं बन पातीं।

गुणोत्कीर्तन : प्रोत्साहन

जयाचार्यश्री ने प्रोत्साहन देने के लिए गाथा-प्रणाली का प्रचलन किया। अहंकार न आए, इस हेतु उन्होंने उसका संघीकरण किया। प्रत्येक व्यक्ति को संघ को अपनी सेवा देनी है और उसे अपना काम भी चलाना है। संघीय अपेक्षा की पूर्ति होती रहे, इस दृष्टि से उनके कदम महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए। प्रोत्साहन का दूसरा रूप था—साधु-साध्वियों का गुणोत्कीर्तन। जब बहिर्विहारी साधु-साध्वियां चातुर्मास के बाद गुरुदर्शन के लिए आते, तब आचार्य उनकी विशेषताओं को गीतिकाओं, ढालों द्वारा प्रस्तुति देते। उस उपक्रम से गुरु-शिष्य संबंध सुदृढ़ हुए। इससे संघ के विकास को नया आयाम मिला। व्यक्तिगत स्वामित्व न होते हुए भी, अपना-अपना शिष्य-शिष्याएं न होते हुए भी, किसी को यह अनुभव नहीं हुआ कि मैं अकेला हूं, असहाय हूं। मुझे कौन पूछेगा? और यही संघ-वृद्धि का एक सुदृढ़ आधार बना।

मर्यादा महोत्सव

मर्यादा महोत्सव की स्थापना भी जयाचार्यश्री ने की। यह एक क्रम बन गया कि चातुर्मास समाप्त होते ही सारे

साधु-साध्वियां उसी दिशा में प्रस्थान करने लगे, जिस दिशा में आचार्यश्री होते। आचार्य का दर्शन कर सबसे पहले समर्पण युक्त शब्दावली का उच्चारण करते—'गुरुदेव! मैं हाजिर हूं, साधु-साध्वियां और पुस्तक-पन्ने आपके चरणों में हाजिर हैं। आप जहां रखाएं, वहां रहने का भाव है।' चतुर्मास की घोषणाओं का क्रम भी उसी समय शुरू हुआ होगा। जयाचार्यश्री ने एक प्रकार से संघ का कायाकल्प कर दिया। उनका विवेकपूर्ण-श्रम संघ के लिए वरदान बन गया।

ध्वनि : प्रतिध्वनि

प्रसिद्ध कहावत है—यथा राजा तथा प्रजा। इसका अर्थ है—राजा ध्वनि है और प्रजा प्रतिध्वनि है। आचार्य ध्वनि है, संघ प्रतिध्वनि है। यदि ध्वनि अच्छी है तो प्रतिध्वनि भी अच्छी होगी। हमारा सारा जीवन ध्वनि की प्रतिध्वनि है, बिंब का प्रतिबिंब है। अगर बिंब ठीक नहीं है, तो प्रतिबिंब ठीक कैसे होगा ? आचार्य की ध्वनि ठीक होती है, तो पूरा संघ प्रतिध्वनित हो जाता है। जयाचार्यश्री की ध्वनि पूरे धर्मसंघ में प्रतिध्वनित हुई और तेरापंथ में एक नए युग का सूत्रपात हो गया। यह क्रम आगे बढ़ता चला गया। दूसरी शताब्दी के अनेक आचार्यों—मघवागणी, माणकगणी और डालगणी के समय यह क्रम एक संस्कार बन गया। तेरापंथ की परंपराओं के व्यवस्थापन और उसके विकास में उन्होंने अपना समग्र जीवन नियोजित कर दिया।

विकास का नया युग

फिर आया आचार्यश्री कालूगणी का कार्यकाल। आचार्यश्री तुलसी के निर्माता पूज्यपाद कालूगणी हैं और मेरे भाग्य-विधाता हैं। इस आधुनिक युग में तेरापंथ की जो स्थिति बनी है, उसकी पृष्ठभूमि के निर्माता पूज्यपाद कालूगणी हैं। पूज्य कालूगणी ने भूमि को उर्वरा बनाया और आचार्यश्री तुलसी पर बीज बोने का दायित्व डाल दिया। संस्कृत, प्राकृत आदि विद्याओं का विकास, प्रलंब यात्राओं और क्षेत्रों का विकास आदि-आदि की पृष्ठभूमि में आचार्यश्री कालूगणी का अप्रतिम योगदान रहा है।

विकास का एक नया और आधुनिक युग तेरापंथ की दूसरी शताब्दी में शुरू हो गया। विक्रम संवत 2000 में विकास का स्पंदन शुरू हो गया और संवत 2005 में उसने आकार लेना शुरू किया। विकास के आधुनिक युग का सूत्रपात हो गया। छह दशकों का यह युग तेरापंथ का नया और आधुनिक युग है। तेरापंथ ने जितनी प्राचीन अर्हताएं अर्जित कीं—संगठन, एकता और व्यवस्था से जो बल पाया, प्रोत्साहन-प्रेरणा का जो संबल मिला, आचार-शुद्धि और विचार-शुद्धि का जो अभियान मिला—इन सबको छह दशकों में प्रस्फुटन मिला। इन छह दशकों में तेरापंथ ने जो कुछ किया, हम उसके प्रत्यक्षदर्शी हैं। विकास के जिन चरणों को हमने देखा है, हम उनका अनुभव कर सकते हैं। उनकी व्याख्या और अंकन करना बहुत कठिन है।

परिवर्तन का इतिहास

आचार्यश्री तुलसी के युग में परिवर्तन का एक अविराम चक्र शुरू हो गया। परिवर्तन का यह इतिहास बहुत लंबा है। आचार्यश्री तुलसी ने परिवर्तन के साथ-साथ अध्यात्म की भावना को भी मजबूत बनाया। अगर अध्यात्म का विकास नहीं होता तो बाहरी परिवर्तन खतरनाक बन जाता। अध्यात्म के विकास को उपेक्षित कर जो परिवर्तन होता है, वह सचमुच एक खतरा बन जाता है।

अणुव्रत-आंदोलन का सूत्रपात, पारमार्थिक शिक्षण संस्था और आदर्श साहित्य संघ के उदय ने परिवर्तन को रचनात्मक भूमिका प्रदान की। अध्यात्म के प्रयोग भी विकसित हुए। भावितात्मा, कुशल प्रणिधान आदि उपक्रम अध्यात्म की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए। प्राकृतिक-चिकित्सा, आसन-प्राणायाम आदि के प्रयोग भी चलते रहे। व्यक्तिगत साधना का क्रम भी गतिशील बना। प्रेक्षाध्यान का व्यवस्थित रूप सामने आया। उसके साथ-साथ जीवन-विज्ञान का एक नया उपक्रम विकसित हुआ। ये सारे नए उपक्रम तेरापंथ के आधुनिक युग की उपलब्धियां हैं।

समण श्रेणी की प्रेरणा भी ऐसे ही हुई। बात छोटी-सी थी। आज के युग की बड़ी समस्याएं हैं और हमारी अपेक्षाएं बहुत बढ़ गई हैं। साधु-साध्वियां अपनी सीमा में हैं। इसका क्या विकल्प होना चाहिए? एक उपासक संघ बनाया गया, किंतु उससे उद्देश्य पूरा नहीं हुआ। ऐसी अनुभूति हुई—गृहस्थ पूरा काम नहीं कर सकते। कल्पना आगे बढ़ी कि कुछ गृहस्थ संन्यासी बनें। वे पदयात्रा, भोजन आदि के नियम से बंधे हुए न हों। एक नये संन्यास की कल्पना प्रस्तुत हो गई, समण श्रेणी का सूत्रपात हो गया। समण श्रेणी में दीक्षित होने वाले गृहस्थ नहीं हैं, उनका न घर से संबंध है, न परिग्रह से संबंध है। इसे मानना चाहिए—नया

संन्यास। इस कार्य में भी बहुत अवरोध आए, किंतु आर्चावर के संकल्प को पूरा होना था, समण-समणियों की विलक्षण दीक्षाएं होने लगी।

विकास का यह युग प्रेरणा और क्रियान्विति का युग रहा है। नई-नई प्रेरणाएं उठीं, नए-नए विकल्प उठे और उनकी पूर्ति के उपक्रम चलते रहे।

सफलता के सूत्र

विकास के लिए, सफलता के लिए प्रबल अध्यवसाय की जरूरत होती है। सफलता का मिलना मुश्किल नहीं है, वह प्रत्येक व्यक्ति को मिल सकती है। एक पश्चिमी विचारक ने लिखा भी है—'सफलता खुले बाजार में बिकती है। उसको खरीदने वाला चाहिए, उसका मूल्य चुकाने वाला चाहिए।' उसका मूल्य है—अध्यवसाय। जिस व्यक्ति का संकल्प और अध्यवसाय दृढ़ नहीं है, वह कभी सफलता को नहीं पा सकता।

सफलता के लिए प्रथम आवश्यकता है—आस्था की। जिस व्यक्ति में आस्था नहीं है, वह कभी सफल नहीं हो सकता।

दूसरी बात है—आत्मविश्वास, अपने आप पर भरोसा। जिसे अपने आप पर भरोसा नहीं है, वह कभी सफल नहीं हो सकता। मैंने देखा है—आचार्यश्री तुलसी का अपने आप पर प्रबल भरोसा था। वे कोई भी काम संदेह में नहीं करते थे।

सफलता का तीसरा सूत्र है—संकल्प। जिसमें संकल्प की शक्ति नहीं होती, वह कोई बड़ा काम नहीं कर सकता। दुनिया में जिन-जिन लोगों ने जितने भी बड़े-बड़े काम किए हैं, वे सब काम संकल्प के भरोसे पर किए हैं। एक अकेला व्यक्ति दृढ़ संकल्प के सहारे बड़े-बड़े काम कर लेता है।

सफलता का चौथा सूत्र है—पुरुषार्थ। संकल्प सिद्धि के लिए विवेकपूर्ण पुरुषार्थ का होना जरूरी है।

अध्यवसाय, आत्मविश्वास, संकल्प और पुरुषार्थ—ये सारी बातें प्राप्त होती हैं—तब सफलता मिलती है। सफलता पाना कोई बड़ी बात नहीं है, पर पूरे संघ को साथ लेकर सफलता का जीवन जीना बहुत बड़ी बात है। अकेला चमकना कोई बड़ी बात नहीं है, स्वयं चमकना और दूसरों को भी चमकाना सबसे बड़ी बात है। सचमुच आचार्य वही होता है, जो अकेला नहीं चमकता। कहा जाता है—अकेला दीपक सैकड़ों दीपों को प्रकाशित कर देता है। आचार्य को भी सभी को साथ लेकर चलना होता है। आचार्यश्री तुलसी सदा इस प्रयत्न में लगे रहे।

मूल आधार सुरक्षित

इन दशकों में तेरापंथ का कायाकल्प हुआ है, पर वह मूल आधार को सुरक्षित रखते हुए हुआ है। एक दिन भी आचार्यवर के मन में यह नहीं आया कि अपनी मौलिकता को कहीं छोड़ दें। सदा एक ही चिंतन चला कि जो भी परिवर्तन करना है, वह मौलिकता को सुरक्षित रखते हुए करना है। मूल बात को छोड़े बिना बदलना ही बदलना कहलाता है। मूल बात को छोड़ कर बदलने का मतलब है—विनाश। मूल आधार को सुरक्षित रखते हुए बदलने का अर्थ है—विकास। तेरापंथ का मूल आधार सदा सुरक्षित रहा है, इसीलिए विकास उसकी नियति बना हुआ है। एक दृष्टि से देखें तो अनुशासन तेरापंथ का मूल आधार रहा है। आचार्यश्री तुलसी ने 'तेरापंथ प्रबोध' में अनुशासन के संदर्भ में बहुत सुंदर लिखा है—

अनुशासन आधार संघ रो, अनुशासन ही प्राण है
अनुशासन है पंथ प्रगति रो, अनुशासन ही त्राण है
हो संता! ज्योतिर्मय चिन्मय दीप हरे अंधार हो
तेरापंथ रा अधिदेवता
श्रद्धा स्वीकारो तेरापंथ रा अधिदेवता
शक्ति संचारो तेरापंथ रा अधिदेवता

संघ का आधार अनुशासन है। संघ का प्राण अनुशासन है और संघ का त्राण भी अनुशासन है। अनुशासन के बिना किसी भी तरह का विकास संभव नहीं है। मैंने इन दशकों में बड़ी-बड़ी संस्थाओं और राष्ट्र के प्रमुख लोगों से सुना है कि उनका विकास इसलिए नहीं हो रहा, क्योंकि उनका अनुशासन ढीला है। जिस समाज और राष्ट्र का अनुशासन अच्छा है, उसका विकास भी हो रहा है।

अनुशासन के बिना केवल धर्मसंघ ही नहीं, कोई भी संस्था नहीं चल सकती। उनमें भी यह देखा जाता है कि अनुशासन कैसा है? अनुशासन करने की क्षमता कैसी है? 'आई. क्यू' ही नहीं, 'ई. क्यू.' पर भी बहुत ध्यान दिया जाता है। अनुशासन उसका एक अंग है और वह हर क्षेत्र में देखा जाता है।

उत्तराध्ययन सूत्र में संगठन के जो मंत्र हैं, सम्यक् दर्शन के जो आठ आचार बतलाए गए हैं, जिन पर

आचार्यश्री तुलसी का पूरा एक लेख है। ये आठ आचार बहुत महत्त्वपूर्ण हैं—

निस्संकिय निक्कंखिय निव्वित्तिगिच्छा अमूढ दिट्ठीय।
उववूह थिरीकरणे वच्छल्लपभावणे अट्ठ।।

संगठन और अनुशासन में रहने वाले की आस्था अविभक्त होनी चाहिए, खंडित नहीं होनी चाहिए। आधा-आधा नहीं होना चाहिए। मैं बहुत बार अपनी एक कविता की इन पंक्तियों को दोहराता हूं—

जीना हो तो पूरा जीना, मरना हो तो पूरा मरना,
बहुत बड़ा है कष्ट जगत में, आधा जीना, आधा मरना।

उपरोक्त पंक्तियों के मर्म को समझना जरूरी है। मैं सोचता हूं कि यह बात हर व्यक्ति के जीवन में आनी चाहिए।

तेरापंथ की त्रिपदी

तेरापंथ की पृष्ठभूमि पर विचार करते समय आचार, सिद्धांत और अनुशासन—तीनों पर विचार करना जरूरी है। यदि तेरापंथ को समझना है, आचार्यश्री भिक्षु और उनके कर्तृत्व को समझना है, तो आचार पर विचार करना होगा, सिद्धांतों और अनुशासन पर विचार करना होगा। हमारा आचार क्या होना चाहिए, यह जानना आवश्यक है। आचार ही सिद्धांत की निष्पत्ति है, इसलिए सिद्धांत और मान्यता को गौण नहीं किया जा सकता।

आचार और सिद्धांत—दोनों की युति होनी चाहिए, समन्वय होना चाहिए। किंतु, इन दोनों की क्रियान्विति अनुशासन के बिना संभव नहीं बनती। आचार्यश्री भिक्षु ने एक व्यवस्थित सिद्धांत और दर्शन प्रस्थापित किया। श्रीमज्जयाचार्य ने उसे आकार और विस्तार दिया और आचार्यश्री तुलसी ने उसे आधुनिक रूप में प्रस्तुत कर जो नया आयाम दिया—वह अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इसी क्रम में हमें अपनी आस्था को भी रखना होगा।

आस्था : एक रक्षा कवच

हमारी आस्था अखंड, अविचल और अप्रकंप होनी चाहिए। जिस पथ को स्वीकार किया है, उसमें हमारी पूरी आस्था है। कोई शंका नहीं, कोई आकांक्षा नहीं, कोई विचिकित्सा नहीं, कोई संदेह नहीं, दृष्टि की कोई मूढ़ता नहीं।

जैन शासन की दृष्टि से तीर्थंकरों को लें, भगवान महावीर को लें और संघ की दृष्टि से देखें तो आचार्यश्री भिक्षु को लें—इनसे बड़ा कोई धर्मगुरु मेरी दृष्टि में नहीं है। वे इतने बड़े रक्षक हैं कि जहां हजारों समस्याओं का समाधान हो सकता है। वे बड़े रक्षक हैं। किंतु प्रश्न यह है कि हमारी आस्था मजबूत है या नहीं? हम रोज जड़ को उखाड़ कर यह तो नहीं देख रहे हैं कि जड़ जम रही है या नहीं? यदि विश्वास अटूट है, तो जड़ जरूर जम जाएगी। रोज जड़ को उखाड़ते रहेंगे तो न इधर के रहेंगे, न उधर के। **नो हव्वाए नो पाराए**—न इस पार रह पाएंगे, न उस पार पहुंच पाएंगे। इस पर गहराई से चिंतन करें कि श्रद्धा निःशंक होनी चाहिए।

ज्ञातासूत्र में 'आस्था' का बहुत सुंदर चित्रण है। श्रद्धा मजबूत नहीं होती है, तो क्या होता है? इसका बहुत मार्मिक दृष्टांत है—मयूरी के दो अंडों का दो मित्रों ने पालन किया। उनमें एक निःशंक था, उसका विश्वास था कि अंडा है तो शिशु-मयूर जरूर निकलेगा। दूसरे के मन में संदेह रहता था। वह उसे रोज उठा कर देखता कि बच्चे पैदा हुए या नहीं? जिसकी श्रद्धा घनीभूत थी, उसका कार्य सफल हो गया। जिसके मन में संदेह था, जो रोज अंडे से छेड़छाड़ करता था—उसका कार्य सफल नहीं हुआ। जहां बार-बार यह संदेह होता है कि क्या मिलेगा? क्या मिलेगा? वहां कभी सफलता नहीं मिलती।

जो मिला है : वह दुर्लभ है

मैं मानता हूं कि आचार्यश्री भिक्षु और जयाचार्यश्री ने जो मंत्र दिए, वे बेजोड़ हैं। हमें जो-कुछ मिला है, वह दुर्लभ है। उससे जन-जन की समस्या का समाधान हुआ है। 'अहिंसा यात्रा' में जटिल से जटिल समस्याओं वाले सैकड़ों लोग आए और उन्हें समाधान मिला है। केवल तेरापंथी ही नहीं, दूसरे संप्रदाय के लोग भी आते हैं। उन्हें भी समाधान सुझाते हैं। हम उनसे यह कभी नहीं कहते कि हम तुम्हारे रक्षक-गुरु हैं। समस्या आई और समाधान दे दिया—बस, इतना ही। एक प्रसंग का स्मरण हो रहा है—आचार्यश्री तुलसी बंगाल की यात्रा पर थे। किसी ने पूछा— 'महाराज! जो अणुव्रती बनेगा, क्या उसे आपको अपना गुरु भी मानना पड़ेगा?' आचार्यश्री तुलसी ने सीधा उत्तर दिया—'मुझे गुरु बनने की भूख नहीं है।' दूसरा प्रश्न था—'क्या आपको नमस्कार करना पड़ेगा?' आचार्यवर ने कहा—'मैं नमस्कार का भी भूखा नहीं हूं। मेरा तो इतना ही कहना है कि आप

अणुव्रत की आचार-संहिता का पालन करें। नमस्कार और गुरु—इन दोनों से मेरा कोई संबंध नहीं है।'

स्पष्ट नीति : निःशंक बनें

हमारी एक स्पष्ट नीति होनी चाहिए। हमें इस भुलावे में भी नहीं आना चाहिए कि अमुक तो हमारा धर्मगुरु है और अमुक हमारा रक्षक-गुरु है। यदि आचार्यश्री भिक्षु, जयाचार्यश्री जैसे समर्थ गुरु भी रक्षक नहीं हैं, तो समाधान कौन सी दुनिया से आएगा? भोले लोग भ्रांति में फंस जाते हैं। यह उपयुक्त नहीं है। हम निःशंक बनें।

मैं एक नई बात सोचता हूं। यदि तेरापंथ के अनुयायी सुबह, मध्याह्न और सायं लोगस्स की अंतिम तीन गाथाओं का स्वाध्याय करें तो उन्हें त्राण और शरण का अनुभव होगा। हम निःशंक बन सकेंगे। देखें—

एवं मए अभिथुआ विहूय रयमला पहीण जरमरणा।
चउवीसंपि जिणवरा तित्थयरा मे पसीयंतु।।
कित्तिय वंदिय मए जे य लोगस्स उत्तमा सिद्धा।
आरोग्ग बोहिलाभं समाहिवर मुत्तमं दिंतु।।
चंदेसु निम्मलयरा आइच्चेसु अहियं पयासयरा।
सागरवर गंभीरा सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु।।

मुझे आरोग्य मिले, बोधि मिले, समाधि मिले। जो चंद्रमा निर्मलतर है, जो सूर्य से अधिक तेजस्वी है, जो सागर से अधिक गंभीर है—वह सिद्ध मुझे सिद्धि दें। **सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु**—इस एक मंत्र ने न जाने कितने लोगों को बचाया है। जो लोग यह कहते थे कि अब हम आत्महत्या करेंगे और कोई दूसरा उपाय नहीं है—मैंने उन्हें इस मंत्र के जप का परामर्श दिया। उन्होंने प्रयोग किया और प्रयोग के बाद उनके जीवन और चिंतन की धारा बदल गई। उन्होंने कहा—अब हम स्वस्थ हो गए हैं।

हम कोई गर्व नहीं करते और हीनभावना भी हमारे मन में नहीं है, लेकिन कह सकते हैं कि जो हमारे पास है—वह किसी से कम नहीं है। अपनी श्रद्धा और आस्था मजबूत होनी चाहिए और उस पर हमें सात्त्विक गौरव भी होना चाहिए, लेकिन दृष्टि यदि साफ नहीं है तो समाधान कैसे मिलेगा? हमारी दृष्टि बहुत साफ और स्पष्ट होनी चाहिए। सबको यह याद रहना चाहिए कि हमने सम्यक्दर्शन स्वीकार किया है। गुरुधारणा स्वीकार की है। प्रतिक्रमण का यह पद सदा सामने रहे—

अरहंतो महदेवो, जावज्जीवं सुसाहुणो गुरुणो।
जिण पण्णत्तं तत्तं, इयं सम्मत्तं मए गहियं।।

मैंने यह सम्यक् दृष्टि स्वीकार की है कि अर्हत् मेरे देव हैं—जो वीतराग हैं, केवली हैं, धर्मदेव हैं। जो साधनाशील हैं, अपरिग्रही हैं, अहिंसक हैं—वह शुद्ध साधु मेरा गुरु है। केवली-जिन ने जो सत्य और सदाचार बताया है—वह मेरा धर्म है। मेरा यह सम्यक् दृष्टिकोण है। इस सम्यक् दृष्टि को स्वीकार करने वाला, इन तत्त्वों के प्रति निःशंक रहे। निष्कांक्षित, निर्विचिकित्सित और अमूढ़दृष्टि रहे। जिनकी इन पर दृढ़ आस्था है, वे इन चार आचारों पर भी ध्यान दें—उपबृंहण, स्थिरीकरण, वात्सल्य और प्रभावना।

पहला आचार है—**उपबृंहण**। विकास होता रहे, यह सभा-संस्थाओं के लिए बहुत जरूरी है। वे धर्मसंघ को आगे बढ़ाने की बात सोचते हैं। तेरापंथ विकास परिषद और जैन विश्वभारती का बहुत बड़ा कर्तव्य है कि विकास की प्रक्रिया चलती रहे। संगठन के क्षेत्र में पहला स्थान **महासभा** का है, तो विकास के क्षेत्र में पहला स्थान **जैन विश्वभारती** का है। पूज्य गुरुदेवश्री तुलसी कहते थे—जैन विश्वभारती समाज की कामधेनु है। कामधेनु से जो मांगो, वह मिलेगा। मांग लिया और नहीं मिला तो फिर कामधेनु नहीं है। जैन विश्वभारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय) जैन विश्वभारती द्वारा संस्थापित है। यह मातृ-संस्था है। दोनों ही संस्थान समाज के लिए गौरव के विषय हैं और अच्छा काम कर रहे हैं।

दूसरा आचार है—**स्थिरीकरण**। संगठन का यह काम होना चाहिए कि कोई व्यक्ति यदि विचलित हो रहा है, तो उसे स्थिर करने का प्रयत्न होना चाहिए। जड़ जमाएं। रोज उखाड़ते रहोगे तो पौधा जड़ नहीं जमा पाएगा। स्थिरीकरण करें। यह **तेयुप** और **महिला मंडल** का दायित्व भी है।

तीसरा आचार है—**वात्सल्य**। जो संगठन के सदस्य हैं, उनके प्रति वात्सल्य होना चाहिए। छोटी-छोटी बातों को लेकर लड़ाई-झगड़ा नहीं होना चाहिए। एक-दूसरे के प्रति वत्सलता रहे। यह चिंतन रहे कि सब हमारे भाई हैं। लड़ें क्यों हम? साधर्मिक वात्सल्य का भाव होना चाहिए। **जय तुलसी फाउंडेशन** द्वारा तेरापंथ समाज में वात्सल्य का प्रयोग किया जा रहा है। संपोषण, शिक्षा, चिकित्सा में जो योग है—इससे समाज शक्तिशाली बनेगा। मेधावी छात्र प्रोत्साहन परियोजना भी प्रतिभा-प्रोत्साहन का उपक्रम है।

जिस समाज में वात्सल्य नहीं होता, वह अच्छा नहीं होता—समाज विकास के लिए साधर्मिक वात्सल्य बहुत आवश्यक है। तेरापंथ विकास परिषद्, जैन श्वेतांबर तेरापंथी महासभा, जैन विश्वभारती संस्थान, जय तुलसी फाउंडेशन, अखिल भारतीय तेरापंथ युवक परिषद तथा अ.भा. तेरापंथ महिला मंडल—ये सब तेरापंथ धर्मसंघ की परिक्रमा कर रहे हैं। उसके विकास और हित की चिंता कर रहे हैं।

चौथा आचार है—**प्रभावना**। सबका दायित्व और कर्तव्य है कि धर्मसंघ की प्रभावना हो। यह सबका काम है। इसमें सबका योग होना चाहिए।

अनेकांत और अहिंसा सूत्र : काम में लें

जैन धर्म में दो तत्त्व ऐसे हैं, जो हर समस्या के समाधान में सहायक हैं—अनेकांत और अहिंसा। हमारे पास सूत्र तो हैं, लेकिन उन्हें काम में नहीं लेते हैं। यह वैसी ही बात है कि बंदूक तो है, लेकिन चलाने वाला कोई नहीं। हमें अनेकांतवाद और अहिंसा के सूत्र को समझना चाहिए।

भावी कल्पनाएं, आयाम और योजनाएं

एक रूसी कहावत है—तुम्हारे पास एक वर्ष का समय हो तो बाजरा बोओ, दस वर्ष का समय हो तो पेड़ लगाओ और सौ वर्ष का समय हो तो आदमी को शिक्षित करो। आदमी को शिक्षित करना, व्यक्तित्व का निर्माण करना सबसे जटिल काम है।

विकास का एक प्रमुख आयाम है कि संघ में विशेषज्ञ होने चाहिए। विद्या की जितनी शाखाएं हैं—संस्कृत, प्राकृत आदि के विशेषज्ञ विद्वान सामने आएं। जैन-दर्शन, अणुव्रत आदि विषयों के विशेषज्ञ व्यक्ति निर्मित हों। इन क्षेत्रों में पांच-दस ऐसे व्यक्तित्व हों, जो केवल तेरापंथ समाज के लिए ही नहीं, अपितु पूरे हिंदुस्तान के लोगों के लिए हों। जिसको जिस विषय में जानना हो वह उन्हीं के पास जाए। ऐसे विशेषज्ञ तैयार हों तो संघ का बहुत बड़ा विकास हो सकता है।

योगक्षेम वर्ष में आध्यात्मिक-वैज्ञानिक व्यक्तित्व निर्माण का एक प्रारूप सामने आया था। इस सूत्र की आज सारी दुनिया को जरूरत है। आज वैज्ञानिक और आध्यात्मिक—दोनों अलग-अलग हैं, इसलिए समस्याओं से परेशान हैं। आज संसार को दोनों का समन्वित रूप चाहिए। ऐसे व्यक्तित्व का निर्माण हो, जिसमें पूरी आध्यात्मिक चेतना का विकास हो और साथ-साथ वैज्ञानिक दृष्टिकोण का भी विकास हो। यदि व्यक्ति आध्यात्मिक बनने के बाद भी रूढ़िवादी बना रहा तो खतरनाक बन जाएगा। इसी तरह वैज्ञानिक बन गया और आध्यात्मिक नहीं बना, तो भी उसका खतरनाक होना स्पष्ट है। इन दोनों को मिलाएं तो खतरनाक नहीं होगा। यह सूत्र अनेकांत का सूत्र है। कोरा आध्यात्मिक होना एकांगी दृष्टिकोण है। कोरा वैज्ञानिक होना भी एकांगी दृष्टिकोण है। दोनों को मिलाने का मतलब है—अनेकांत।

जैन जीवनशैली

तेरापंथ की एक कल्पना है—जैन जीवनशैली का विकास। श्रावक समाज का तेरापंथ के विकास में बहुत बड़ा योगदान रहा है। श्रावकों के योग के बिना कोई काम सफल हो नहीं सकता। उनके लिए एक जीवनशैली का विकास करना अनिवार्य है, जिससे छीना-झपटी के इस वर्तमान युग में श्रावक शांतिपूर्ण और अच्छा जीवन जी सकें। ऐसी शैली का विकास करना हमारी भावी योजना का महत्त्वूपर्ण अंग है।

जैन-विद्या : एक आवश्यकता

आज हमें उच्चकोटि के जैन विद्वान तैयार करने की जरूरत है, जो पूरे विश्व में जैन-तत्त्वों को और व्यापक बना सकें। हमारे पास किसी भी तत्त्व की कमी नहीं है। आचार है, विचार है, समस्या समाधान के सूत्र हैं, सिद्धांत हैं। लेकिन, वे व्यावहारिक जीवन में नहीं आ पाए हैं। दुर्भाग्य से आज सभी एक ही दिशा में चल रहे हैं और वह दिशा है—अर्थ-प्राप्ति की। जब सारे ही लोग अर्थ की दिशा में चलते चले जाएंगे तो समाज और धर्मसंघ का क्या होगा? इसलिए समग्र जैन समाज को मिल कर अहिंसा और अनेकांतवाद के सिद्धांत को आगे बढ़ाना होगा। हम ऐसे पांच योग्य विद्यार्थियों को चुनें और उनके संपूर्ण जीवन और उनके परिवार की पूर्ण जिम्मेदारी लें और उन्हें उच्च कोटि का विद्वान बनने की दिशा में अग्रसर करें, ताकि वे देश में ही नहीं, विदेशों में भी जाकर जैन सिद्धांतों का व्यापक प्रचार-प्रसार कर सकें।

जैन विश्वभारती विद्या का ऐसा ही एक महत्त्वपूर्ण संस्थान है, जहां से इस उद्देश्य की पूर्ति हो सकती है। अनेक लोग जैन धर्म को जानने के लिए जैन विश्वभारती में आना चाहते हैं। आज जरूरी है—जैन-विद्याओं को विश्वव्यापी बनाना और उनका सही मूल्यांकन कराना। हमारा विश्वास

है कि जिस विद्या के पास अनेकांत जैसा विश्वव्यापी सिद्धांत है—वह अवश्य ही शक्तिशाली है। अगर इसका ठीक उपयोग किया जाए तो बहुत सारी समस्याओं का समाधान मिल सकता है। जैन धर्म के पास अहिंसा और अपरिग्रह का सुंदर दर्शन है, पर उसका भी उपयोग नहीं हो रहा है। जैन-विद्या के विकास के क्षेत्र में हमारी निरंतरता चले और समर्पण भाव से कुछ साधु-साध्वियां, कुछ श्रावक-श्राविकाएं अपना योगदान दें तो शायद जैन विश्वभारती जैन-विद्या का बहुत बड़ा केंद्र बन जाए।

अहिंसा और विश्व शांति के प्रयत्न

आज अंतरराष्ट्रीय क्षेत्र में अहिंसा और विश्व शांति के प्रयत्नों की नितांत आवश्यकता है। हिंसा और युद्ध आज बड़ी समस्या है। उसके निवारण में हमारी शक्ति लगनी चाहिए। जहां अहिंसा का प्रश्न आएगा, सबसे पहले जैनों का नाम आएगा। जितनी सूक्ष्मता के साथ जैन धर्म ने अहिंसा का प्रतिपादन किया है, उतनी सूक्ष्मता से किसी ने नहीं किया। यदि जैन लोग हिंसा और युद्ध की समस्याओं के संदर्भ में काम न करें, तो उससे बड़ी कोई चिंता की बात नहीं हो सकती। इस उद्देश्य से कल्पना की गई थी—अहिंसा सार्वभौम एवं अहिंसा समवाय की। इस कार्य को विकसित करना है। विश्व में जो भी संस्थान अहिंसा के लिए, युद्ध-वर्जना के लिए कार्य कर रहे हैं, उनके साथ संपर्क कर इस कार्यक्रम को आगे बढ़ाना तेरापंथ समाज का एक मुख्य दायित्व होना चाहिए।

मुझे गुरुदेवश्री तुलसी के गीत के एक पद का स्मरण हो रहा है। गीत के बोल हैं—

प्रभो! यह तेरापंथ महान।
मिला, मिलेगा जिससे जग को
आध्यात्मिक अवदान।
अर्हत् वांग्मय का उद्गाता,
जीवन-दर्शन का व्याख्याता।
मानव संस्कृति का निर्माता
जिसके कण-कण में मुखरित है,
शाश्वत का संगान।
प्रभो! यह तेरापंथ महान।।

यह गीत हमें बता रहा है कि हम अध्यात्म में प्रमुख कैसे हैं? यह गीत एक भविष्यद्रष्टा ऋषि की वाणी है। पूरे विश्व को जिससे आध्यात्मिक अवदान मिला है, मिल रहा है और मिलेगा—बस, यही तेरापंथ है। ❖

किसी भी समाज में संवाद की स्थिति मनुष्य के पारस्परिक रिश्तों पर निर्भर करती है; जिस अनुपात में इन रिश्तों में अविश्वास और संदेह की गांठें जटिल होती जाएंगी संवाद भी उतना ही उथला, संकीर्ण और कृत्रिम बनता जाएगा। भारत में एक जमाने से इन रिश्तों की आधारशिला मनुष्य का धार्मिक विश्वास रहा है, जहां एक ओर मनुष्य का धर्म उसे सृष्टि और समय में अपनी जगह पहचानने में मदद देता है, दूसरी तरफ यह पहचान ही उसे प्रेरणा देती है कि वह दूसरे व्यक्ति के धार्मिक विश्वास के मर्म को जान सके। हर धर्म की दो खिड़कियां होती हैं: एक आस्था की तरफ खुलती है, दूसरी जिज्ञासा की तरफ। हम आस्था से जिज्ञासा की ओर अग्रसर होते हैं और जिज्ञासा से आस्था की ओर। यह हमारा दुर्भाग्य ही माना जाएगा कि स्वतंत्र भारत में 'धर्मनिरपेक्षता' के नाम पर हमने आस्था और जिज्ञासा की खिड़कियों पर परदे गिरा दिए हैं। मनुष्य का धर्म उसका व्यक्तिगत सरोकार बन कर रह गया है। हमारे सार्वजनिक जीवन में विविध धार्मिक विश्वासों का मुक्त आदान–प्रदान नष्ट हो चुका है। यही कारण है कि यह धर्म अब कुछ वर्गों का निहित स्वार्थ बन कर चोर–दरवाजे से हमारी राजनीति में दखल देता है। हमें डर लगता है कि यदि हम खुल कर विभिन्न धार्मिक विश्वासों पर बातचीत करेंगे तो 'सांप्रदायिकता' के दोषी ठहराए जाएंगे। क्या एक अच्छा हिंदू या अच्छा मुसलमान अच्छा भारतीय नहीं बन सकता? गांधीजी ने धर्मनिरपेक्षता के आधार पर नहीं, हर भारतीय की धार्मिक अस्मिता को स्वीकार करके देश में राष्ट्रीय भावना को जाग्रत किया था। हिंदुत्व के केंद्र–बिंदु पर रह कर उन्होंने सब अन्य धर्मों को सम्मान दिया था। मुझे लगता है कि जब तक हम अपने देश में मुक्त रूप से विभिन्न धार्मिक संप्रदायों के बीच मुक्त, सौहार्द्रपूर्ण संवाद के दरवाजे नहीं खोलेंगे तब तक उनके बीच अविश्वास और भय की दीवार हमेशा खड़ी रहेगी।

—निर्मल वर्मा

अपने व्यक्त रूप में स्वभाव का अर्थ 'मन की प्रवृत्ति', 'आदत या बान' होता है। 'मन की प्रवृत्ति' मन नामक इंद्रिय का गुण है, जो सभी प्राणियों में प्राप्त होती है। सभी में इसका रूप भिन्न-भिन्न होता है। यह ईश्वरप्रदत्त होती है। परंतु, 'आदत या बान' हमारे बाह्य अभ्यास और संस्कारों का परिणाम होती है। इसमें संदेह नहीं कि उसके मूल तंतु भी ईश्वरप्रदत्त स्वभाव में ही निहित होते हैं, परंतु उनकी अभिव्यक्ति निरंतर सुदृढ़ अभ्यास और संस्कार से ही संभव हो पाती है। जहां तक स्वभाव-परिवर्तन का प्रश्न है, सभी जीवधारियों में परिस्थितियों के अनुरूप स्वभाव में थोड़ा-बहुत परिवर्तन पाया जाता है। उदाहरणार्थ जो जंगली कुत्ता वन में हिंसक होता है, वही जंजीर में बंध कर अपनी हिंसकता का त्याग कर देता है। हाथी नगर में आकर सरकस के माध्यम से मनोरंजन का कारण होता है। अजायबघर के सीखचों में वर्षों से बंद सिंह की हिंसक प्रवृत्तियों में कुछ-न-कुछ परिवर्तन आ ही जाता है। यह अंतर परिस्थितियों में अंतर उत्पन्न होने के कारण होता है।

स्वभावोक्ति : एक विमर्श

डॉ. मथुरेशनंदन कुलश्रेष्ठ

'भाव' का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ होता है—'अस्तित्व'। 'भू' धातु का अर्थ है 'होना'। अतः भाव का अर्थ हुआ 'जो है'। 'अभाव'—अर्थात् अ+भाव (जो नहीं है), भाव के इसी अर्थ का निषेध करने वाला विपरीतार्थक शब्द है। 'भाव' शब्द में 'स्व' उपसर्ग जोड़ कर बनने वाले इस 'स्वभाव' का अर्थ होगा 'स्व' का 'भाव', अर्थात् किसी वस्तु की अपनी स्थिति। गीताकार का कथन है—'जिस वस्तु का भाव (अस्तित्व) है, उसका अभाव (अनस्तित्व) नहीं किया जा सकता और जिस वस्तु का अभाव है, उसको भाव-रूप में परिणत नहीं किया जा सकता।'[1] आधुनिक विज्ञान का—'पदार्थ के अविनाशत्व का नियम'—भी इसी बात को दुहराता है।[2] अतः इन दोनों ही उक्तियों के आधार पर भाव शब्द पदार्थ का वाची है।

साधारणतः स्वभाव शब्द निम्नलिखित चार विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता है—

1. अस्तित्व के अर्थ में, 2. वस्तुओं के मूल गुणों के अर्थ में। 3. जड़ वस्तुओं से भिन्न चेतनशील प्राणियों की विशेषता के रूप में। 4. मानव-स्वभाव के अर्थ में।

'शब्द-कल्पद्रुम' में स्वभाव के चार पर्यायों[3] में से एक पर्याय है 'स्वरूप'। 'रूप' शब्द वस्तु की भौतिक स्थिति की ओर संकेत करता है। प्रत्येक वस्तु जिसका अस्तित्व है, अपना कुछ-न-कुछ रूप रखती है। रूप परिवर्तनशील होता है। परंतु, रूप-परिवर्तन के बाद भी वस्तु का अस्तित्व आधार-रूप में स्थित रहता है। स्वरूप का परिवर्तन वस्तु के अस्तित्व की अभिव्यक्ति के प्रकार का अंतर है। 'सांख्य-दर्शन' में अस्तित्व के लिए प्रकृति शब्द का प्रयोग किया गया है। विकृति और संस्कृति प्रकृति में ही होती है। तात्पर्य यह कि प्रकृति या स्वभाव वह पदार्थात्मक आधार है जो परिवर्तन के कारण विकृति या संस्कृति के रूप में प्रतिफलित होता है।

अंग्रेजी में स्वभाव शब्द का पर्याय है Nature। 'ऑक्सफोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी' में Natural के अन्य अनेक अर्थों के साथ तीन अर्थ ऐसे भी हैं, जिनका मंतव्य है पदार्थ की भौतिक जगत में सत्ता।[4] इन अर्थों के अनुसार वही वस्तु जिनका स्पष्ट भौतिक व पदार्थात्मक अस्तित्व है, जो कि विचारात्मक या आध्यात्मिक दृष्टि से नहीं, वरन ऐंद्रिय संवेदनों से अनुभव की जा सकती है, स्वाभाविक है। 'कॉलियर्स एन्साइक्लोपीडिया अमेरिका' के अनुसार प्रकृति के अनेक अर्थों में से एक अर्थ में प्रकृति (nature) शब्द ग्रीक भाषा के शब्द physis का अंग्रेजी पर्याय है, जिसका अर्थ है—एक ऐसी प्रक्रिया या अस्तित्व जिसकी सक्रियता का स्रोत उसी में निहित है। यह वस्तुओं का एक अनुत्पाद्य, स्वतःचालित तथा पूर्णताप्राप्त स्वरूप है और इसी कारण जो कुछ बाह्य रूप से निर्मित या उत्पाद्य है, यह उसके ठीक विपरीत है। प्रकृति का यह स्वरूप मनुष्य द्वारा निर्मित कलाओं के विपरीत है।[5]

हर्वर्ट डब्लू. श्निडर ने अपने लेख—'The Unnatural'—में प्रकृति के अस्तित्ववाची रूप की व्याख्या करते हुए लिखा है—'इसके अनेक प्रचलित अर्थों में से एक अर्थ है—'अस्तित्व की पूर्णता'। सभी वस्तुएं जिनका अस्तित्व है, था या हो सकता है, स्वाभाविक कहलाएंगी। अतिप्राकृतिक या अस्वाभाविक वस्तुओं का अस्तित्व ही नहीं होता। उनके अस्तित्व की कल्पना ही की जा सकती है। हमारा मस्तिष्क प्रकृति से परे कल्पनाएं करने और अनस्तित्व को प्रश्रय देने के लिए स्वतंत्र है। अतः वह अनेक अस्वाभाविक वस्तुओं—जिनका अस्तित्व नहीं है—जैसे भूत-प्रेत, मिश्रित जंतु या पक्षी आदि की कल्पना प्रस्तुत कर देता है।'[6] जॉन सांत्याना ने अपनी पुस्तक 'Life of reason'—में इसी प्रकार के विचार व्यक्त किए हैं। उसने इस अस्तित्व को occurrence या happening कहा है।[7] प्रयोगात्मक प्रकृतवाद के संस्थापक जॉन डेवी ने इसे Process संज्ञा देकर कहा है कि कोई भी समय सापेक्ष्य घटना या अस्तित्व 'प्रकृति' है।[8]

उपर्युक्त सभी प्रमाणों के आधार पर हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि गीताकार द्वारा प्रयुक्त शब्द 'भाव', 'शब्द-कल्पद्रुम' द्वारा प्रयुक्त 'स्वरूप', सांख्य द्वारा प्रयुक्त 'प्रकृति', ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी द्वारा प्रयुक्त existence, सांत्याना द्वारा प्रयुक्त Occurrence या happening, जॉन डेवी द्वारा प्रयुक्त Pattern of Events' तथा श्निडर द्वारा प्रयुक्त Process शब्द स्वभाव (Nature) के विषय में जिस अनिवार्यता की ओर संकेत करते हैं—वह है पदार्थत्व। अतः पदार्थत्व स्वभाव का प्रथम अनिवार्य अनुबंध है। वस्तु का स्वतंत्र अस्तित्व ही उसका स्वभाव है।

स्वभाव और वस्तु के मूल गुण

पदार्थात्मक अस्तित्व स्वभाव की सर्वप्रथम अनिवार्यता है। परंतु, व्यवहार-जगत में इस शब्द का उपयोग किसी भी अस्तित्व के मूल गुणों के लिए किया जाता है। इस अर्थ का मूल, स्वभाव के प्रथम अर्थ में ही निहित है। जहां 'स्व' का 'भाव' होता है, वहां 'स्व' 'पर' से अपनी भिन्नता सिद्ध करता है। अतः किसी वस्तु का स्वभाव उस वस्तु की वे मूल विशेषताएं हैं जो उस वस्तु के स्वतंत्र अस्तित्व को सिद्ध करती हैं। हिंदी शब्द-सागर, शब्द-कल्पद्रुम, उज्ज्वल नीलमणि, गीता, श्वेताश्वतर और मांडूक्योपनिषद् आदि भारतीय ग्रंथों तथा कॉलियर्स एन्साइक्लोपीडिया अमेरिका, ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी और प्रकृतवादी अमेरिकन दार्शनिकों की पुस्तकों में स्वभाव शब्द के इस अर्थ को स्पष्ट करने वाले विचार तथा उनका विवेचन उपलब्ध होता है। इन सभी विचारों के मंथन के उपरांत हम निम्नलिखित निष्कर्षों पर पहुंचते हैं—

1. किसी वस्तु का स्वभाव उस वस्तु में सदा रहने वाले गुण हैं।
2. ये गुण उस वस्तु से अलग नहीं किए जा सकते; ये उसमें अंतर्निहित होते हैं।
3. ये गुण वस्तु में उत्पन्न नहीं किए जा सकते; ये अजन्य होते हैं और वस्तु में स्वतःसिद्ध रूप से विद्यमान रहते हैं।
4. इन गुणों का विपर्यय नहीं हो सकता।
5. सृष्टि का मूल कारण वस्तु का गतिशील केंद्र

(Dynamic Center) होता है, जो वस्तु के रूप में परिवर्तन उपस्थित करता है। यह परिवर्तन ही सृष्टि है।

6. अध्यात्मवादी वस्तु के स्वभाव को सृष्टि का कारण नहीं मानते। ब्रह्म की चेतना से ही एक वस्तु का स्वभाव दूसरी वस्तु के स्वभाव का उपभोग करके सृष्टि का विकास करता है।
7. भौतिकवादी दृष्टिकोण के अनुसार वस्तु का गतिशील केंद्र वस्तु की निरपेक्षता को भंग करके अन्य वस्तु के स्वभाव के संदर्भ में उस वस्तु के गुणों का उद्घाटन करता है। यही सृष्टि है।
8. किसी भी वस्तु के स्वभाव को वैज्ञानिक विधियों से ज्ञात किया जा सकता है। वैज्ञानिक विधि एक Self-correcting process है।

जब हम वस्तु के गुणों के रूप में स्वभाव का अर्थ करते हैं, तो निश्चित ही आध्यात्मिक दृष्टि से पूर्ण नहीं, भौतिक दृष्टि से ऐसा करते हैं। अतः ब्रह्म के संयोग से सृष्टि के विकास का सिद्धांत छोड़ कर हम Chemical affinity या Dynamic center के सिद्धांत को ही स्वीकार करते हैं। अतः किसी भी वस्तु का स्वभाव उस वस्तु के वे गुण हैं जो उसके अस्तित्व को सिद्ध करते हैं। वस्तु-गुणवाची यह द्वितीय अर्थ प्रथम अर्थ का पूरक है। किसी वस्तु के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार करने का अर्थ उस वस्तु के उन गुणों को स्वीकार करना है जो उसे अन्य वस्तुओं से अलग अस्तित्व प्रदान करते हैं।

निष्कर्ष-रूप में हम कह सकते हैं कि किसी वस्तु का स्वभाव उस वस्तु की वे अंतर्निहित तथा अभिन्न विशेषताएं हैं जो स्वतःसिद्ध तथा अपरिवर्तनीय हैं और जिन्हें वैज्ञानिक विधियों से जाना जा सकता है।

चेतन प्राणी और स्वभाव

पदार्थ के मूल गुणों से संबंधित उपर्युक्त विवेचन में हमारी दृष्टि जड़ पदार्थ पर ही केंद्रित रही है। परंतु, सृष्टि में जड़ पदार्थों के अस्तित्व के साथ-साथ चेतना से युक्त जीवधारी भी दिखाई पड़ते हैं। वैसे इन जड़ पदार्थों में भी एक चेतना की कल्पना कर 'कॉलियर्स एन्साइक्लोपीडिया, अमेरिका' ने 'चेतना का गतिशील स्रोत' शब्द-समूह का प्रयोग किया है। परंतु, इसका प्रयोग Chemical affinity के अर्थ में किया गया है। पदार्थ की चेतना एकदम यांत्रिक होती है, उसमें विकल्प अपनाने की शक्ति नहीं होती; परंतु जीवधारियों की चेतना पदार्थ की चेतना से इस अर्थ में भिन्न होती है कि एक तो जीवधारी initiative लेने में समर्थ होता है और दूसरे उसमें विकल्प अपनाने की शक्ति होती है।

सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि प्राणियों में चेतना का यह वैशिष्ट्य पदार्थात्मक वैशिष्ट्य के अतिरिक्त होता है। नित्य दृष्टिगोचर होने वाले गाय, घोड़ा, बैल आदि पदार्थ भी हैं और जीवधारी भी। हड्डी, मांस, अंतड़ी, शिरा और पेशियों का अपना पदार्थात्मक मूल्य है। इस रूप में प्रत्येक चेतनशील प्राणी अपने पदार्थात्मक मूल्य से युक्त होता है। इसमें संदेह नहीं कि प्राणी की चेतना उसके पदार्थ की मात्रा और प्रकार से बहुत-कुछ नियंत्रित होती है और उसके स्वभाव को नियंत्रित तथा संयमित करती है। उदाहरणतः एक जीवांशधारी अमीबा और हाथी के स्वभाव का अंतर केवल मानसिक स्थिति या initiative लेने की शक्ति का ही अंतर नहीं, वरन उस पदार्थ के भार और आकार का भी अंतर है। उसका पदार्थ भी उसके स्वभाव का नियमन करता है। मोर अपने हल्केपन के कारण पंखों की सहायता से आकाश में उड़ सकता है, परंतु हाथी के लिए यह संभव नहीं है। शारीरिक संगठन और परिस्थितियां उसके स्वभाव पर प्रभाव डालती हैं। किसी भी जीव में जिस स्वभाव का विकास होता है, वह परिस्थितियों के साथ किया गया एक सामंजस्य होता है। अपने जीवन को बनाए रखने के लिए चेतनशील प्राणियों को जिस संघर्ष का सामना करना पड़ता है—उसके लिए शारीरिक ही नहीं, मानसिक सभ्यता भी आवश्यक हुआ करती है। किसी भी प्राणी का परिवेश परिवर्तन के जितने द्रुत झटकों से युक्त होगा, सम्मुख आने वाली परिस्थितियां जितनी अधिक विषम होंगी, उसके स्वभाव में उतनी ही अधिक नम्यता होगी। परंतु, अचेतन पदार्थ के स्वभाव में किसी भी प्रकार की नम्यता नहीं आती। उनके स्वभाव में आने वाले परिवर्तन ब्रह्मांड में होने वाले अत्यंत मंदगति के परिवर्तन होते हैं जो structure को परिवर्तित करते रहते हैं। परंतु, ये परिवर्तन इतने सूक्ष्म होते हैं कि लाखों वर्ष बाद व्यक्त होते हैं। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि जड़ और चेतन के स्वभाव का अंतर पदार्थ का अंतर तो है ही, परंतु चेतन का अंतर उनको एकदम दो भागों में विभक्त कर देता है। विभिन्न चेतन प्राणियों के स्वभाव का अंतर उनकी चेतना का समानुपाती तो होता ही है, साथ ही पदार्थ की मात्रा, शारीरिक संगठन और परिस्थितियों के द्वारा भी उसका नियंत्रण होता है।

जड़ और चेतन के स्वभाव में अंतर होने का एक मूल कारण यह भी है कि पदार्थ का द्वितीय रूप प्रथम रूप की अपेक्षा एक विशिष्ट गुण—'गति' से युक्त होता है। मूल रूप में दोनों ही वस्तुएं पदार्थ तो हैं ही, तो फिर चेतना क्या है? इस प्रश्न का उत्तर दो रूपों में प्रस्तुत किया गया है। अध्यात्मवादी दर्शन चेतना को ईश्वरीय मानता है और उसे आत्मा, रूह, जीव या soul के नाम से अभिहित करता है; परंतु भौतिकवादी दर्शन चेतना को पदार्थ का ही गुण मानता है। उसके अनुसार वस्तु के परमाणु में निहित छोटे-छोटे कणों का पारस्परिक संघर्ष ही चेतना का मूल कारण है। दोनों ही पक्ष विभिन्न जीवों के स्वभाव के अंतर की व्याख्या अपनी-अपनी विचारधारा के अनुकूल करते हैं। भौतिकवादी संपूर्ण विश्व की निर्मिति में पदार्थ के स्वभाव को ही मूल कारण मानता है।

परंतु अध्यात्मवादी इसका खुल कर विरोध करते हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद् के प्रथम अध्याय में सृष्टि का कारण ढूंढ़ते समय उपनिषद्कार ने भौतिकवादियों के इस मत का स्पष्ट रूप से खंडन किया है[9] और यह स्थापना की गई है कि ईश्वर ही मूलतः चेतना का स्रोत है। आत्मा उसी का एक अंश है। 'गीता' और 'उज्ज्वल नीलमणि' में भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त किए गए हैं।

अपने व्यक्त रूप में स्वभाव का अर्थ 'मन की प्रवृत्ति', 'आदत या बान' होता है।[10] 'मन की प्रवृत्ति' मन नामक इंद्रिय का गुण है, जो सभी प्राणियों में प्राप्त होती है। सभी में इसका रूप भिन्न-भिन्न होता है। यह ईश्वरप्रदत्त होती है। परंतु, 'आदत या बान' हमारे बाह्य अभ्यास और संस्कारों का परिणाम होती है। इसमें संदेह नहीं कि उसके मूल तंतु भी ईश्वरप्रदत्त स्वभाव में ही निहित होते हैं, परंतु उनकी अभिव्यक्ति निरंतर सुदृढ़ अभ्यास और संस्कार से ही संभव हो पाती है।[11] जहां तक स्वभाव-परिवर्तन का प्रश्न है, सभी जीवधारियों में परिस्थितियों के अनुरूप स्वभाव में थोड़ा-बहुत परिवर्तन पाया जाता है। उदाहरणार्थ जो जंगली कुत्ता वन में हिंसक होता है, वही जंजीर में बंध कर अपनी हिंसकता का त्याग कर देता है। हाथी नगर में आकर सरकस के माध्यम से मनोरंजन का कारण होता है। अजायबघर के सीखचों में वर्षों से बंद सिंह की हिंसक प्रवृत्तियों में कुछ-न-कुछ परिवर्तन आ ही जाता है। यह अंतर परिस्थितियों में अंतर उत्पन्न होने के कारण होता है।

वास्तविकता यह है कि सरकस का शेर और सपेरे की पिटारी का सांप, दोनों ही अपने स्वाभाविक परिवेश में नहीं हैं। दोनों ही परिस्थितियां उनके लिए क्रमशः अस्वाभाविक हैं। इन पशुओं की प्रवृत्तियों में आने वाला अंतर जीवन-सातत्य की मूल भावना के गर्भ से उद्भूत होता है। यही भावना उसे इस परिवर्तन के लिए बाध्य करती है। अस्वाभाविक परिवेश में वह अपने मूल स्वभाव से भिन्न रूप में व्यवहार करने लगता है। परंतु, किसी भी विशिष्ट प्रकार के परिवेश का सातत्य पशु की आदतों में परिवर्तन उपस्थित कर देता है। घोड़े का तांगे में जुता होना या उसके ऊपर किसी का सवार होना, घोड़े के स्वतंत्र अस्तित्व के संदर्भ में अस्वाभाविक परिस्थितियां हैं। परंतु, मनुष्य-समाज सहस्रों वर्षों से घोड़े को इस रूप में प्रयुक्त करता आ रहा है। अतः घोड़े के लिए वह एक स्वाभाविक परिस्थिति बन गई है। उसकी चेतना भी कुछ इतनी अधिक शिक्षित हो गई है कि उसने वंश-परंपरा के रूप में इस परिस्थिति के साथ समझौता कर लिया है। ये परिस्थितियां आज उसके लिए स्वाभाविक हो गई हैं। तात्पर्य यह कि बाह्य परिवेश भी किसी प्राणी के स्वभाव पर एक निश्चित सीमा तक अंतर डाल सकता है। उसमें कुछ सीमा तक परिवर्तन संभव है।

मानव-स्वभाव

रैडफील्ड महोदय के लेखों के संकलन 'ह्यूमेन नैचर एंड स्टडी ऑफ सोसायटी' वोल्यूम प्रथम में संकलित 'The Universally Human and Culturally Variable'—लेख में 'मानव-स्वभाव' पर अच्छा विवेचन प्राप्त होता है। 'मानव-स्वभाव' शब्द पर विचार करते हुए उन्होंने लिखा है कि यह शब्द मानव की उन विशेषताओं के संदर्भ में प्रयुक्त होता है, जिसे हम प्रत्येक मनुष्य में देख सकते हैं, भले ही वह किसी भी संस्कृति या समाज से संबंधित हो। परंतु, आधुनिक मानव-शास्त्र और मनोविज्ञान में इस शब्द को तीन अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है। ला पियरे (La Piere), फ्रेंसवर्थ (Fransworth), जैकब (Jacob) और स्टर्न (Stern) आदि विद्वान मनुष्य के उस व्यवहार को, जो एक विशिष्ट संस्कृति या समाज में पाया जाता है, 'मानव-स्वभाव' के नाम से अभिहित करते हैं। यह अर्थ इस बात का द्योतक है कि मानव-स्वभाव सांस्कृतिक परिवेश की देन है। परंतु, क्रॉबर (Krobber), हॉवैल्स (Howells) और डेवी (Dewey) आदि विद्वान 'मानव-स्वभाव' शब्द का

प्रयोग, मनुष्य की सार्वभौमिक विशेषताओं और सांस्कृतिक विशेषताओं, दोनों के ही अर्थ में करना चाहते हैं। इन लोगों के मत में 'मानव-स्वभाव' हमारी नस्ल की उन औसत विशेषताओं का नाम है, जो प्रत्येक मनुष्य में होती हैं, चाहे उनका समाज और संस्कृति कोई भी हो। विद्वानों का यह वर्ग सांस्कृतिक विशेषताओं की अपेक्षा नहीं करता, परंतु उनको वर्गतः परिवर्तनशील (variable) मानता है, जबकि जन्मजात विशेषताओं को अपरिवर्तनीय (Invarible) कहता है। इस शब्द का तीसरा अर्थ पार्क (Park), फेरिस (Pairs) और क्लकोन (Kluckhohn) आदि विद्वान उन मानवीय विशेषताओं के अर्थ में लेते हैं जिन्हें मानव, मानव होने के नाते विकसित करता है और जो सभी देशों और संस्कृतियों में एक हैं। तात्पर्य यह है कि यह वर्ग विश्व की सभी संस्कृतियों में प्राप्त उन विकसित विशेषताओं को मानव-स्वभाव कहता है, जिन्हें दूसरे शब्दों में 'मानवता' कहा जा सकता है। ये विशेषताएं अर्जित विशेषताएं हैं, जन्मजात नहीं। रैडफील्ड इस तृतीय अर्थ को ही मान्यता देता है।

स्पष्ट है कि रैडफील्ड महोदय का मत मानव-शास्त्र और समाज-शास्त्र के संदर्भ में पुष्ट हुआ है, परंतु हमारा उद्देश्य मानव-स्वभाव के संबंध में एकपक्षीय विचार न करके सर्वांग रूप से विचार करना है, क्योंकि काव्य में मानव-स्वभाव के प्रत्येक पक्ष को स्थान मिलता है। हमारे मतानुसार समाजशास्त्रियों द्वारा प्रस्तुत दूसरा मत अधिक उचित है, क्योंकि वे सांस्कृतिक और जन्मजात, दोनों ही विशेषताओं से स्वभाव का निर्माण मानते हैं। परंतु, स्वभाव की वैयक्तिक भिन्नता को भी उपेक्षित नहीं किया जा सकता। रैडफील्ड महोदय ने भी अपने वर्गीकरण में इस सत्य को स्वीकार किया है। अतः मानव-स्वभाव के अंतर्गत हमें मानव की व्यक्तिगत, सांस्कृतिक और नस्लगत विशेषताओं को समाहित करना होगा। इनमें से प्रत्येक विशेषता पर हम दो दृष्टियों से विचार करेंगे—(1) वे व्यक्तिगत, सांस्कृतिक और नस्लगत विशेषताएं—जो अव्यक्त के रूप से व्याप्त हैं और (2) वे व्यक्तिगत, सांस्कृतिक और नस्लगत विशेषताएं जो विकसित की गई हैं।

क्रमशः शेष अगले अंक में

❖

संदर्भ ग्रंथ

1. नासतो विद्यते भावः नाभावो विद्यते सतः।
2. 'Law of indestructibility of matter' is ons of the four laws of chemical combinations.
3. चार पर्याय इस प्रकार हैं—1. स्वकीय भाव, 2. प्रकृति, 3. स्वरूप और 4. निसर्ग।
4. Oxford Dictionary के अनुसार ये अर्थ इस प्रकार हैं—
   1. Natural things or objects; matter having their basis in the natural world or in usual course of nature.
   2. Having a real or physical existence as opposed to what is spiritual, intellectual, fictitous, etc.
   3. Existing or formed by nature, consisting of objects of this kind, not artificially made, formed or constructed. p. 35-38.
5. Collier's Encyclopaedia, America, p. 662.
6. Naturalism and Human Spirit, Editor Y. H. Krikorin, P. 122.
7. Indeed nothing that actually happens can be unnatural and among the thing occure are maniacal actions, illusions and dillusions of all sorts and even homicidal frenzy. They are then, 'not contrary to nature but only to the habits of the majority'. Disease is as natural as life. It is human imagination which attributes sublimity and beauty or gruesomeness and horror to any natural event. None of these qualities is felt by nature. Nature is indifferent to all.

   —Men and Movement in American Philosophy, by Joseph L. Blau में उद्धृत, P. 325
8. Nature, then, is not exclusively the highly structured and determinate body of static things in fixed relations, which it was described as being in popular versions of machanistic Physics and among materialistic philosophers. Nature is instead a pattern of events and inter-relations in which even the pattern itself is an event-modified by its interaction with other events and processes.

   वही, P. 348
9. कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा, भूतानि योनि पुरुष इति चिन्त्या।
   संयोग एषां न त्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुखहेतोः।।
   —श्वेताश्वतरोपनिषद्, अध्याय 1, श्लोक 2
10. हिंदी शब्द-सागर, भाग 4, पृ. 3744
11. 'निसर्गः सुदृढ़ाभ्यासजन्यः संस्कारविशेष उच्यते।'
    —उज्ज्वल-नीलमणि

❖❖

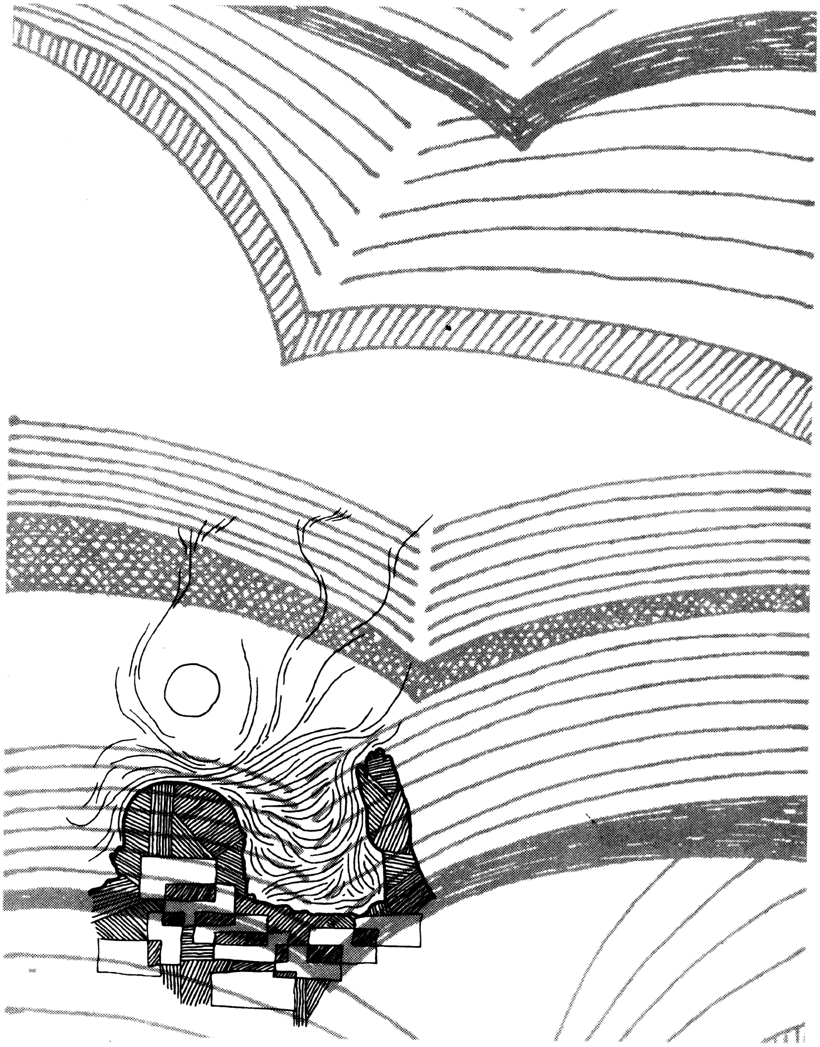

अनुभूति

सच्चा सृजन शांति, प्रसन्नता, एकाग्रता, निर्भयता, स्वतंत्रता एवं स्वयंस्फूर्ति द्वारा प्रकट होता है। घरों, शालाओं अथवा समग्र जीवन में जहां इन चीजों का अभाव होगा, वहां सच्चे सृजन को लेकर संशय ही बना रहेगा। हमारी वर्तमान कलाकृतियों की दरिद्रता तथा हमारी ह्रासमान रसिकता इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि हम स्वाभाविक सृजनात्मक कार्यों की दृष्टि से आज कहां हैं? यदि हम अपने समग्र जीवन पर दृष्टि डाल कर देखें तो ज्ञात होगा कि हमारा जीवन सत्य से कितनी दूर चला जा रहा है। ऐसे में असत्यजीवी जनता के जीवन में से सत्य-स्वरूप सृजन कैसे संभव है? सृजन के प्रखर शत्रु हैं दंड, पुरस्कार, परीक्षा और प्रदर्शन। दंड के भय से या तो आदमी छिप कर सृजन करता है या फिर सृजन की उसकी प्रेरणा, उसका प्राण भय के मारे विलुप्त हो जाता है। छिपे हुए अथवा विकृत सृजन के उदाहरण स्वरूप आज हमारे सामने जेलखाने, दवाखाने, पागलखाने खड़े हैं। पुरस्कार और स्पर्धा के कारण उत्पन्न हुए स्वार्थ परायण व्यापार-धंधे, युद्ध तथा राजनीति हमारे समक्ष मौजूद ही हैं। हम जगह-जगह देख रहे हैं कि एक तरफ परीक्षा के कारण बहिर्मुख बना मनुष्य कितना छिछला, दंभी, ढोंगी तथा ठग बन चुका है और वह कितना मिथ्याभिमानी व अहंकारी बन चुका है। दूसरी तरफ हम यह भी देखते हैं कि वही मनुष्य कितना हताश, निरुत्साह, अपनी ही आत्मा का अपमान करने वाला तथा जीवन-रस से विहीन बन चुका है।

—गिजुभाई

उनका ज्ञान-वैभव विराट था और उनकी रचनाधर्मिता भी उच्च स्तर की थी। अपने मौलिक चिंतन के आधार पर उन्होंने नए मूल्यों की स्थापना की। उनकी अहिंसा सार्वभौमिक क्षमता पर आधारित थी। बड़ों के लिए छोटों की हिंसा और पंचेंद्रिय जीवों की सुरक्षा के लिए एकेंद्रिय प्राणियों का हनन आचार्यश्री भिक्षु की दृष्टि में आगम-सम्मत नहीं था।

अध्यात्म व व्यवहार की भूमिका भी उनकी भिन्न थी। उन्होंने कभी और किसी भी प्रसंग पर दोनों को एक तुला से तोलने का प्रयत्न नहीं किया। उनके अभिमत से व्यवहार व अध्यात्म को सर्वत्र एक कर देना घी और तंबाकू के सम्मिश्रण जैसा अनुपादेय है।

आचार्यश्री भिक्षु : विराट ज्ञान-वैभव; मौलिक चिंतन

युवाचार्यश्री महाश्रमण

जैन वाङ्मय का एक सुंदर सूक्त है—**पण्णा समिक्खए धम्मं**—प्रज्ञा धर्म की समीक्षा करती है। धर्म की गहराई में वही व्यक्ति जा सकता है, जिसकी प्रज्ञा जाग्रत होती है। महामना आचार्यश्री भिक्षु प्रज्ञासंपन्न, कुशाग्र बुद्धि के धनी और क्रांतिकारी पुरुष थे। विक्रम संवत 1817, चैत्र शुक्ला नवमी को उन्होंने अभिनिष्क्रमण कर जीवन की एक नई यात्रा प्रारंभ की थी। संत भीखणजी ने अभिनिष्क्रमण के लिए चैत्र शुक्ला नवमी के दिन को ही निर्धारित किया, इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि उन्होंने योजनाबद्ध तरीके से कार्य प्रारंभ किया और आगे बढ़े। वह क्रांति बगड़ी क्षेत्र से शुरू हुई। बगड़ी के साथ भीखणजी स्वामी के तीन संबंध ज्ञात हैं। बगड़ी में उनका ससुराल था। बगड़ी में उन्होंने प्रथम दीक्षा स्वीकार की और बगड़ी में ही रामनवमी के दिन अभिनिष्क्रमण किया।

आचार्य भिक्षु जन्म दिवस
□
बोधि दिवस
□
आषाढ़ शुक्ला त्रयोदशी
5 जुलाई, 2009

तेरापंथ के इतिहास को पढ़ने से अथवा अन्य प्राचीन ग्रंथों को देखने से यह ज्ञात होता है कि तत्कालीन स्थितियों को लेकर भीखणजी स्वामी का मन कुछ उद्वेलित हो गया था। यह उद्वेलन ही क्रांति

की पृष्ठभूमि का आधार बन गया। जब आदमी के मन में कुछ कंपन होता है, उद्वेग होता है तो क्रांति का संकल्प पुष्ट होने की संभावना बन सकती है। संत भीखणजी की उस समय तेंतीस वर्ष की अवस्था थी। पूर्ण जवानी की अवस्था में उनके मन में क्रांति का उद्वेग जगा। क्रांति के लिए अवस्था और उद्वेग का अच्छा योग मिल गया। क्रांति के लिए रचनात्मक संघर्ष और साहस का माद्दा होना नितांत आवश्यक होता है। हम आचार्यश्री भिक्षु के जीवन को पढ़ें तो पता चलेगा कि उत्कट साहस के बल पर ही उन्होंने धर्मक्रांति की। यही क्रांति तेरापंथ स्थापना की भूमिका बनी। क्रांति करने वालों में अवरोधों को झेलने का माद्दा भी होना जरूरी होता है।

संत भीखणजी में कष्टों को झेलने की भी अगाध हिम्मत थी। वे अपने साहस के आधार पर आगे बढ़ते चले गए।

श्रद्धा; आचार और विचार

संत भीखणजी के मन में जहां आचार को लेकर एक भावना उठी, वहीं श्रद्धा और विचार को लेकर भी उनके मन में एक आंदोलन हुआ। आचार्यश्री भिक्षु के विचारों अथवा तेरापंथ की अवधारणाओं को तीन रूपों में प्रस्तुत किया जा सकता है— ● मिथ्यात्वी की करणी में निर्जरा। ● पुण्य का बंधन स्वतंत्र नहीं होता। और ● शुद्ध साध्य के लिए शुद्ध साधन की अनिवार्यता।

संत भीखणजी ने मिथ्यात्व की करणी को भी मोक्ष की आराधिका बतलाया था, यद्यपि सम्यक्त्वी की करणी के सामने मिथ्यात्वी की करणी का फल बहुत अल्प होता है। उनकी एक विशिष्ट अवधारणा रही है कि पुण्य का बंधन स्वतंत्र नहीं होता। जैसे गेहूं के साथ भूसा होता है, वैसे ही निर्जरा के साथ पुण्य होता है। किंतु, जिस प्रकार भूसे के लिए गेहूं की खेती नहीं की जा सकती, वैसे ही पुण्य के लिए धर्म नहीं किया जा सकता। पुण्य की इच्छा करने से पाप का बंध होता है।

संत भीखणजी की स्पष्ट अवधारणा थी कि शुद्ध साध्य के लिए साधन भी शुद्ध होना चाहिए। यदि साध्य मोक्ष है, तो उसका साधन संयम होगा। संयम के बिना मोक्ष को प्राप्त नहीं किया जा सकता। यानी अशुद्ध साधन से शुद्ध साध्य को प्राप्त नहीं किया जा सकता। यदि व्यक्ति का साध्य अशुद्ध है और साधन शुद्ध है तो उससे अकाम निर्जरा होती है और तब वह कुछ विकास को अवश्य प्राप्त कर लेता है, इससे अधिक नहीं। जिसमें निर्जरा की कोई भावना नहीं होती, वे मात्र द्रव्य क्रिया करते हैं, ऊपरी तौर पर साध्वाचार का पालन करते हैं। वे नौ ग्रेवैयक तक तो पहुंच जाते हैं, किंतु मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकते। क्योंकि उनका साध्य अशुद्ध है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि शुद्ध साध्य को प्राप्त करने के लिए साधन भी शुद्ध होना चाहिए। अलबत्ता अशुद्ध साध्य की प्राप्ति के लिए साधन अशुद्ध भी हो सकता है और शुद्ध भी हो सकता है।

विवादमुक्त व्यवहार

आचार्यश्री भिक्षु की अनेक विशेषताओं को गिनाया जा सकता है और उनमें से ही एक है विवादों के बीच निर्विवाद व्यवहार।

जहां बहुत मनुष्य साथ रहते हैं, वहां कलह की उत्पत्ति की भी संभावना रहती है। कभी कलह को उपशांत करना कठिन होता है तो कभी सुकर भी होता है। प्रज्ञासंपन्न नेतृत्व सदा अवसर के अनुकूल समाधान का प्रयास करता है, पर यहां यह तथ्य भी महत्त्वपूर्ण है कि कलह करने वाले लोग भी कलह की व्यर्थता को समझें। सत्य के लिए अथवा न्याय के लिए दृढ़ता भी जरूरी है।

पारस्परिक व्यवहार की स्थिति में विवाद व्यर्थ होता है, लेकिन उसका समाहार कैसे हो, यह बात हम आचार्यश्री भिक्षु के जीवन प्रसंगों से समझ सकते हैं। इसी तरह का एक प्रसंग है—एक बार दो साधु एक विवाद को लेकर तेरापंथ के संस्थापक श्रद्धेय भिक्षु स्वामी के पास आए। एक ने दूसरे के विषय में स्वामीजी से निवेदन किया—गुरुदेव! पानी लाते हुए इस साधु के पात्र से मार्ग में इतनी दूर तक पानी गिरता आ रहा था।

दूसरा मुनि बोला—आचार्यवर! मेरे पात्र से पानी अवश्य गिरा था, किंतु उतनी दूर तक नहीं, जितना यह कह रहा है।

दोनों शिष्यों की बात सुन कर आचार्यवर ने कहा कि यह विवाद तो त्याज्य है। दोनों को सामंजस्य स्थापित करना चाहिए। न्यायनिपुण गुरुदेव ने कहा—जहां से पानी गिरा है, वहां एक रस्सी लेकर दोनों जाओ और दूरी को मापकर आओ।

इतना सुनते ही लज्जा का अनुभव करते हुए वे दोनों तपोधन गुरुदेव के पास से लौट गए।

त्याग की महिमा

दो मार्ग हैं—त्याग और भोग। हम जानते हैं कि

अध्यात्म के क्षेत्र में त्याग की महिमा अपार है। त्याग रहित मनुष्य साधु नहीं हो सकता। जबकि अकिंचनता साधना का महत्त्वपूर्ण तत्त्व है।

एक बार श्रद्धेय भिक्षु स्वामी 'पुर' नाम के गांव से भीलवाड़ा नगर जा रहे थे। रास्ते में विश्राम करने के लिए वे एक वृक्ष के नीचे ठहरे। आचार्यवर की महिमा सुन कर एक व्यक्ति वहां आया और उसने श्रद्धेय भिक्षु स्वामी से पूछा—'आपका क्या नाम है?'

गुरुदेव ने उत्तर दिया—'लोग मुझे भिक्षु कहते हैं।'

आगंतुक—'मैंने आपका नाम और महिमा लोगों के मुखारविंद से बहुत बार सुनी है। मैंने तो सोचा था कि आपके पास अनेक हाथी, घोड़ों का समूह होगा, परंतु मैं तो सबकुछ विपरीत देख रहा हूं। क्या कारण है स्वामिन्! अनुग्रह करके बताइए।'

आचार्यश्री भिक्षु—'मेरे पास कुछ भी नहीं है। मैं तो अकिंचन हूं।' आचार्यश्री भिक्षु का यह सीधा, सरल और सपाट उत्तर था। पर, अकिंचनता का मर्म और महत्ता इसमें छिपी थी। अकिंचन बनना सरल नहीं है, पर जो बन जाता है वह तीन लोक का स्वामी कहला सकता है। यह परमात्मा बनने का रहस्य है, जिसे केवल योगी लोग ही जानते हैं। आचार्यश्री भिक्षु इस महत्ता को जानते थे।

विराट ज्ञान-वैभव : उच्च रचनाधर्मिता

- आचार्यश्री भिक्षु के साहित्य को पढ़ने से यह ज्ञात होता है कि उनका ज्ञान-वैभव विराट था और उनकी रचनाधर्मिता भी उच्च स्तर की थी। अपने मौलिक चिंतन के आधार पर उन्होंने नए मूल्यों की स्थापना की। उनकी अहिंसा सार्वभौमिक क्षमता पर आधारित थी। बड़ों के लिए छोटों की हिंसा और पंचेंद्रिय जीवों की सुरक्षा के लिए एकेंद्रिय प्राणियों का हनन आचार्यश्री भिक्षु की दृष्टि में आगम-सम्मत नहीं था।

अध्यात्म व व्यवहार की भूमिका भी उनकी भिन्न थी। उन्होंने कभी और किसी भी प्रसंग पर दोनों को एक तुला से तोलने का प्रयत्न नहीं किया। उनके अभिमत से व्यवहार व अध्यात्म को सर्वत्र एक कर देना घी और तंबाकू के सम्मिश्रण जैसा अनुपादेय है।

इसी तरह दान-दया के विषय में लौकिक एवं लोकोत्तर भेद-रेखा प्रस्तुत कर आचार्यश्री भिक्षु ने तत्समय की जैन समाज में प्रचलित मान्यता के समक्ष नया चिंतन प्रस्तुत किया। उस समय सामाजिक सम्मान व मापदंड दान-दया पर अवलंबित था। स्वर्गोपलब्धि और पुण्योपलब्धि की मान्यताएं भी दान-दया के साथ जुड़ी हुई थीं। आचार्यश्री भिक्षु ने लौकिक दान-दया की व्यवस्था को कर्तव्य व सहयोग बता कर मौलिक सत्य का उद्घाटन किया।

साध्य-साधन के विषय में भी उनका दृष्टिकोण स्पष्ट था। उनके अभिमत से शुद्ध साधन के द्वारा ही शुद्ध साध्य की प्राप्ति संभव है। उन्होंने कहा—रक्त से सना वस्त्र कभी रक्त से शुद्ध नहीं होता, वैसे ही हिंसा-प्रधान प्रवृत्ति कभी भी अध्यात्म के पावन लक्ष्य तक नहीं पहुंचा सकती।

आचार्यश्री भिक्षु एक कुशल नीतिकार होने के साथ-साथ एक सहज कवि और महान साहित्यकार भी थे। उन्होंने राजस्थानी भाषा में लगभग अड़तीस हजार पद्यों की रचना कर जैन व राजस्थानी साहित्य को समृद्ध किया। उनकी साहित्य-रचना का प्रमुख विषय शुद्ध आचार का प्रतिपादन, तत्त्वदर्शन का विश्लेषण एवं धर्मसंघ की मौलिक मर्यादाओं का निरूपण था। उनकी रचनाओं में प्राचीन वैराग्यमय आख्यान भी निबद्ध हैं। उनके द्वारा रचे गए पद्यों में रस, अनुप्रास और अलंकारों के प्रयोग पाठक वर्ग को मुग्ध कर देते हैं।

उन्होंने अपने सूक्ष्म ज्ञान को सहजता के साथ राजस्थानी पद्यों में निबद्ध कर दिया। आज अपेक्षा है कि वर्तमान समाज उसे मनन युक्त पढ़े।

जब प्यास जगती है तब व्यक्ति स्वयं पानी की खोज करता है और जहां पानी मिलने की संभावना होती है, वहां वह पहुंच जाता है। प्यास को बुझाने के लिए उठे हमारे ये कदम तब तक गतिशील बने रहें, जब तक हमारी प्यास शांत न हो जाए और हम आत्मस्वरूप में अवस्थित न हो जाएं। ❖

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।।

दुखों का नाश करने वाला योग तो यथायोग्य आहार-विहार करने वाले का, कर्मों में यथायोग्य चेष्टा करने वाले का और यथायोग्य सोने तथा जागने वाले का ही सिद्ध होता है।

—श्रीमद्भगवद्गीता

संघ को शरीर से उपमित किया जा सकता है। शरीर के प्रत्येक अवयव की स्वस्थता ही शरीर की स्वस्थता है। वैसे ही संघ के प्रत्येक सदस्य की शारीरिक, मानसिक एवं भावनात्मक स्वस्थता ही संघ की आरोग्यता है। संघ में आरोग्य का निवास बना रहे, इसके लिए संघ का नेतृत्व सदैव प्रयत्नशील रहता है। संघ को संघपुरुष की उपमा दी गई है। संघपुरुष संघ के सारे अवयवों के एकीभाव का प्रतीक है। जैसे शरीर के किसी भी अंग में विकृति उत्पन्न हो जाए तो उससे पूरा शरीर प्रभावित होता है और उस विकृति को दूर करने का प्रयत्न करता है। यह कार्य सफलतापूर्वक तभी हो सकता है, जब संघपुरुष अर्थात् संघ का शरीर स्वस्थ हो तथा उसे संतुलित मात्रा में आवश्यक पोषक तत्त्व प्राप्त होते रहें।

आणाजुत्तो संघो सेसो पुण अट्ठिसंघाओ

समणी डॉ. मंगलप्रज्ञा

साधक साधना के क्षेत्र का चयन करता है और इस चयन प्रक्रिया से पूर्व वह सुनिश्चित करता है कि मैं जिस संघ को अपनी साधना की आधार-स्थली बना रहा हूं, उसमें वैसी योग्यता है या नहीं। वही संघ महान होता है जो साधक को साधना की स्वायत्तता प्रदान करे तथा सुरक्षा के शक्तिशाली धागे से उसे बांधे हुए रखे। व्यवहार भाष्य में कहा गया—

आसासो वीसाओ,
सीतघरसमो य होति मा भाहि
अम्मापिती समाणो,
संघो सरणं तु सव्वेसिं
गाथा—1681

—संघ आश्वास, विश्वास एवं शीतगृह के समान है, अतः भयभीत मत बनो। वह माता-पिता के सदृश (संरक्षक) है। संघ सबके लिए शरणभूत है।

संघ का स्वरूप

संघ आज्ञा एवं मर्यादा की प्राचीर से संरक्षित होता है। आज्ञा-मर्यादा ही संघ को संघत्व प्रदान करते हैं—

तेरापंथ स्थापना दिवस
आषाढ़ पूर्णिमा
7 जुलाई, 2009

आणाजुत्तो संघो सेसो पुण अट्ठिसंघाओ—जिस संघ में आज्ञा-मर्यादा का सम्यक् प्रवर्तन होता है, वही संघ संघ है। मात्र व्यक्तियों के समुदाय को संघ नहीं कहा जा सकता। आज्ञा-मर्यादाहीन संगठन विकास का नहीं, विनाश

का हेतु बन जाता है। वह आरोहण को नहीं, अवरोहण को आमंत्रित करता है। वैसे समूह या संगठन को प्राचीन साहित्य में अस्थि-समूह की बीभत्स उपमा से उपमित किया गया है।

भगवान महावीर ने व्यक्तिगत एवं समूहबद्ध, दोनों ही प्रकार की साधना को स्वीकार किया है, किंतु महत्ता संघबद्ध साधना को प्राप्त है। जिनकल्पी मुनि एकाकी साधना करते हैं, किंतु अंत में उन्हें संघ की शरण में आना ही होता है। उनकी साधना तब ही पराकाष्ठा को प्राप्त होती है। जैन-शासन में संघबद्ध साधना प्रारंभ से ही रही है तथा उसको बहुत ही आदरास्पद स्थान प्राप्त है। तीर्थंकर का अर्थ ही है—संघबद्ध साधना का प्रवर्तक। साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध संघ का प्रवर्तन तीर्थंकर करते हैं। तीर्थंकर स्वयं संघ को नमस्कार करते हैं। सिंदूरप्रकर में कहा गया—

यस्मै तीर्थपतिर्नमस्यति सतां यस्माच्छुभं जायते।।

जैन साहित्य में संघ विचार को गरिमापूर्ण स्थान प्राप्त है। जैन ज्ञान मीमांसा का महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है—नंदी। उस ग्रंथ के प्रारंभ में महावीर स्तुति के पश्चात् संघ स्तुति की गई है, जिसमें संघ को अनेक उपमाओं से उपमित किया गया है। जिसका एक उदाहरण यहां प्रस्तुत है—

गुणभवन-गहण! सुयरयणभरिय!
दंसण विसुद्ध-रत्थागा।
संघणगर! भद्दं ते,
अक्खंड चरित्तं-पागरा।

इस पद्य में संघ को एक नगर से उपमित करते हुए कहा है—'उत्तरगुण रूप भवनों से गहन, श्रुत-रूप रत्नों से युक्त, विशुद्ध दर्शन-रूप मार्गों से संकुल, चारित्र-रूप अखंड प्राकार वाले, हे संघरूप नगर! तुम्हारा कुशल हो।'

संघ गुणवत्ता की भित्ति पर अवस्थित होता है। जहां गुण समुदाय का निवास नहीं होता, वैसा संघ शरण स्थल भी नहीं बन सकता। आचार्यश्री तुलसी ने संघ माहात्म्य को रेखांकित करने वाले 'संघषट्त्रिंशिका' नामक एक सुंदर ग्रंथ का प्रणयन किया और उस ग्रंथ के प्रथम श्लोक में ही उन्होंने संघ को शरण, त्राण, गति, प्रतिष्ठा एवं साधना के आधार के रूप में स्वीकृत किया है—

संघः शरणं त्राणं गतिः प्रतिष्ठा च साधनाधारः।
तस्माद् भूयो भद्रं भूयादनघाय धर्मसंघाय।।

उपर्युक्त मीमांसाओं से संघ का महत्त्व स्वतः स्फुट हो जाता है। आज के इस युग में जहां फिसलन एवं भटकन के अनेक निमित्त उपलब्ध हैं, साधना का पथ अत्यंत दुरूह होता जा रहा है। ऐसी विषम परिस्थिति में संघ की शरण अत्यंत महत्त्वपूर्ण एवं साधना में सहयोगी बनती है।

प्रभास्वर धर्मसंघ

तेरापंथ धर्मसंघ एक आज्ञाप्रधान धर्मसंघ है। इस संघ ने 250 वर्ष की सुदीर्घ यात्रा तेजोमय आभावलय के साथ परिसंपन्न की है। विक्रम संवत 1817 में आचार्यश्री भिक्षु द्वारा की गई वह धर्मक्रांति तेरापंथ के नाम से विश्रुत हुई। उसकी प्रारंभिक यात्रा में एक छोटा-सा कारवां उस क्रांति-पुरुष के साथ जुड़ा और उसके साथ कदमताल मिलाता हुआ आगे बढ़ता रहा। आचार्यश्री भिक्षु का तपोमय जीवन उनकी आचार-आस्था को अभिव्यक्त कर रहा था, वहीं युक्ति-संगत विचार-वैभव जिनशासन में वैडुर्य मणियों सम आभा बिखेर रहा था। उनके जीवन का एक ही ध्येय था—सयंम विशुद्धि का मार्ग प्रशस्त बना रहे। इसी ध्येय को लक्ष्य में रख कर उन्होंने संघ को अनेक मर्यादाओं से आवेष्टित किया। मर्यादा निर्माण के औचित्य को अभिव्यक्त करते हुए उन्होंने स्वयं कहा—'मैंने यह उपक्रम शिष्यादि के ममत्व-परिहार के लिए, संयम विशुद्धि के लिए तथा सभी अनुशासन एवं न्याय मार्ग पर चलते रहें—इसलिए किया है।'

सामुदायिक चेतना

आचार्यश्री भिक्षु की सोच दूरगामी थी। वे समूह-साधना की व्यवस्था देते हुए व्यक्तिगत स्वतंत्रता को भी प्रोत्साहित करते रहे हैं। लिखित (मर्यादा) का निर्माण भी उन्होंने अपनी समझ के अनुसार किया, किंतु उसको उन्होंने तत्कालीन साधु-संघ पर थोपा नहीं। संघस्थ साधुओं के सम्मुख उसको विचारार्थ प्रस्तुत किया। उन साधुओं ने उसे अपनी परख से परखा, तत्पश्चात् उसे सहर्ष हस्ताक्षरित कर स्वीकृति प्रदान की।

आचार्यश्री भिक्षु ने समूह चेतना के जागरण एवं प्रशिक्षण का मार्ग प्रस्तुत किया। स्वविवेक से व्यक्ति स्थिति का आकलन करे एवं तत्पश्चात् उसे स्वीकार या अस्वीकार करे। किसी भी प्रकार के बाह्य दबाव में आकर बाध्यता के साथ किसी तत्त्व या तथ्य की स्वीकृति चिर-स्थाई नहीं हो सकती। इस तथ्य से भली-भांति परिचित आचार्यश्री भिक्षु ने

हृदय-परिवर्तन के सिद्धांत को मुख्यता प्रदान की। हृदय से स्वीकृत विचार एवं आचार सरणी अध्यात्म के आरोहण का सुघड़ मार्ग प्रस्तुत करती है। उस पथ पर आरोहित साधक कभी भी पथ-भ्रष्ट नहीं हो सकता। श्रद्धा एवं आचार का सुविवेक उसे स्वीकृत पथ पर अग्रेषित करता है।

संघ की दीर्घजीविता

एक बार किसी जिज्ञासु ने आचार्यश्री भिक्षु से पूछा—भीखणजी! आपका यह कठिन आचार का मार्ग—तेरापंथ कब तक चलेगा? आचार्यश्री भिक्षु ने गंभीर रहस्य का उद्घाटन करते हुए कहा—'जब तक संघ के साधु-साध्वियां अपनी श्रद्धा और आचार में सुदृढ़ रहेंगे। वस्त्र, पात्र आदि उपकरणों की शास्त्रविहित मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करेंगे—तब तक यह मार्ग बहुत अच्छे ढंग से चलता रहेगा।'

किसी भी संगठन का मौलिक आधार संख्या नहीं, अपितु उसका सुदृढ़ आचार होता है। सजगता से आचार की अनुपालना संगठन का प्राण तत्त्व है। शिथिलाचार संघ की जड़ों को खोखला कर उसे समाप्त कर देता है। आचार्यश्री भिक्षु के इस दृष्टिकोण ने तेरापंथ को एक आचारवान धर्मसंघ बनने का गौरव प्रदान किया है। इस बलबूते पर ही संघ विकास के नए-नए आयाम उद्घाटित कर रहा है।

विरल विशेषता

जैन धर्म के इतिहास में तेरापंथ का उदय एक विरल घटना है। तत्कालीन समय में परिव्याप्त साधु-संस्था की व्यवस्था से इसकी व्यवस्था सर्वथा भिन्न थी। अनुस्रोत के सुखद सुविधावादी पथ के विपरीत प्रतिस्रोत के स्वनामधन्य साधना पथ का वह विशिष्ट स्वीकरण था। तेरापंथ को जैन धर्म के लिए एक प्राणदायी संगठन कहा जा सकता है। आचार एवं विचार की शिथिलता उस समय के संगठनों को शक्तिहीन बना रही थी। उस समय की परिस्थितियों में तेरापंथ का प्रादुर्भाव आचार एवं विचार विशुद्धि के पराक्रम का पांचजन्य बजा रहा था। तेरापंथ को आचार-विशुद्धि के क्षेत्र में होने वाली धर्म-क्रांतियों का निचोड़ कहा जा सकता है। व्यष्टि एवं समष्टि की आस्था का आलंबन आचार-विशुद्धता ही बन सकती है। संघबद्ध साधना में समूह की प्रधानता परिलक्षित है, किंतु इसकी पृष्ठभूमि में वैयक्तिक साधना की स्वतंत्रता की अनुगूंज भी है। गण में/ समूह में रहते हुए भी निश्चय नय की साधना की जा सकती है। भीड़ कभी एकांत में बाधा उत्पन्न नहीं कर सकती। मानसिक चंचलता एकांत में भी भीड़ खोज लेती है, अतः मानसिक स्थिरता का साधना के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह मानसिक स्थिरता संघ में रहते हुए भी साधक को एकांत का आनंद प्रदान करती है। किसी प्रसंग में आचार्यश्री भिक्षु ने कहा था—'गण में रहूं निरदाव एकल्लो।'—इस वक्तव्य को साधना के दृष्टिकोण से ग्रहण करने पर संघ/समूह में भी एकांत साधना का पथ प्रशस्त हो जाता है।

प्रशिक्षण का पराग

संगठन की सुदृढ़ता के लिए उसके सदस्यों में आस्था की प्रगाढ़ता आवश्यक होती है। आस्था के धागे से बंधा हुआ साधक विषम परिस्थितियों के पर्वतों को भी लांघ लेता है। श्रद्धा का सेतु साधक को संकल्प-विकल्प के सरित्-प्रवाह में भी सुरक्षित रख लेता है। जिस संघ के सदस्य जितने अनुशासित, मर्यादित एवं संयमित होते हैं, वह संघ उतना ही अधिक शक्तिशाली एवं प्राणवान होता है तथा विकास के नए-नए आयाम उद्घाटित करता है। तेरापंथ धर्मसंघ अपनी इन विशेषताओं के आधार पर ही विकास की दिशा में गतिशील है। संघ में इन विशेषताओं के उपबृंहण का प्रशिक्षण दिया जाता है। श्रीमद् जयाचार्यजी के साहित्य का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि उन्होंने संघ में इन विशेषताओं का प्रसार करने के लिए साहित्य का सृजन भी किया तथा संघस्थ सदस्यों में इसके प्रति सहज ही ग्राह्यता का भाव उत्पन्न हो जाए, इसलिए मनोवैज्ञानिक ढंग से संघ के सदस्यों को प्रशिक्षित भी किया।

संघ के सभी सदस्यों का साधना पक्ष, आचार पक्ष एवं व्यवहार पक्ष एक जैसा नहीं होता। उसमें द्वितीया एवं पूनम के चंद्रमा जैसी तरतमता रहती है। कुछ सदस्य अत्यंत विनीत, भद्र एवं संघ-हितैषी होते हैं। इसके विपरीत कुछ अविनीत एवं संघ की अप्रभावना करने वाले भी होते हैं। अविनीत एवं विनीत व्यवहार को प्रकट करते हुए श्रीमद् जयाचार्यजी ने लिखा है—

काच भाजन अविनीतडो, कहो चोटां खमै केम।
सहे चोटां तो विनीत ही, कै हीरा कै हेम।।

—काच के बर्तन पर कोई चोट लगाए तो वह सहन नहीं कर सकता—फूट जाता है, किंतु सोना और हीरा चोटें खाकर दुगुनी चमक से शोभित होते हैं। इसी प्रकार सद्गुरु की शिक्षा रूपी चोट से अविनीत दुख पाता है और सुविनीत उसे शिरोधार्य करता है।

अविनीत गोलो मैण नों, तप्त गलै तत्काल।
सुविनीत गोलो गार नों, ज्यूं धमैं ज्यूं लाल।।

—मोम का गोला अग्नि का ताप लगते ही पिघल जाता है, किंतु मिट्टी के गोले को जितना अधिक ताप लगता है, वह उतना ही मजबूत होता है। यही स्थिति विनीत और अविनीत की है।

अविनीत वृक्ष एरंडियो, अस्थिर ते करै कोप।
सुविनीत कल्पतरु समो विनय नों वगतर रोप।।

—अविनीत एरंड वृक्ष की तरह थोड़ी-सी हवा का झोंका लगते ही अस्थिर हो जाता है, किंतु विनयी-सुविनीत कल्पवृक्ष की तरह अडिग एवं मनमोहक होता है।

विनीत शिष्य सदैव विकास के पथ पर आरूढ़ होता है। इसके विपरीत अविनीत को अनेक कठिनाइयों का सामना करना होता है। विनीत स्वयं एवं संघ की सौभाग्य वृद्धि में हेतु बनते हैं। विनीत साधक का व्यवहार अनुकरणीय होता है।

संघपुरुष का स्वास्थ्य

संघ ऊर्जा का ऊर्जस्वल स्रोत है। इससे प्रवाहित ऊर्जा संघ के हर कोने को प्राणवान एवं सजग बनाए रखती है। संघ को शरीर से उपमित किया जा सकता है। शरीर के प्रत्येक अवयव की स्वस्थता ही शरीर की स्वस्थता है। वैसे ही संघ के प्रत्येक सदस्य की शारीरिक, मानसिक एवं भावनात्मक स्वस्थता ही संघ की आरोग्यता है। संघ में आरोग्य का निवास बना रहे, इसके लिए संघ का नेतृत्व सदैव प्रयत्नशील रहता है। संघ को संघपुरुष की उपमा दी गई है। संघपुरुष संघ के सारे अवयवों के एकीभाव का प्रतीक है। जैसे शरीर के किसी भी अंग में विकृति उत्पन्न हो जाए तो उससे पूरा शरीर प्रभावित होता है और उस विकृति को दूर करने का प्रयत्न करता है। यह कार्य सफलतापूर्वक तभी हो सकता है, जब संघपुरुष अर्थात् संघ का शरीर स्वस्थ हो तथा उसे संतुलित मात्रा में आवश्यक पोषक तत्त्व प्राप्त होते रहें।

आधुनिक आहार-विज्ञान में पोषक तत्त्वों की चर्चा प्राप्त होती है। पहला तत्त्व है—प्रोटीन। प्रोटीन हमारे अंग-प्रत्यंगों और अवयवों की सभी कोशिकाओं का निर्माण करते हैं। उनकी क्षति-पूर्ति करते हैं और हमारे शरीर का गठन एवं वर्धन करते हैं। अतः प्रोटीन को 'बोडी बिल्डर्स' कहा जाता है, वैसे ही संघपुरुष के लिए उपशांत कषाय की साधना प्रोटीन का कार्य करती है। उपशांत कषाय की साधना संघ के हर सदस्य को पुष्ट करती है। कहीं भी कोई भी अवरोध या टूटन-फिसलन होती है—उसको दूर करती है। क्षमा, सौहार्द आदि तत्त्वों की संघ में वृद्धि करती है। संघ में नए आचार-विचार की कोशिकाओं का निर्माण कर संघपुरुष के शरीर को सशक्त करती है।

'लाइपिड्स' या वसा और 'कार्बोहाइड्रेट'—ये शरीर में ऊर्जा उत्पन्न करते हैं तथा शरीर को उष्णता भी प्रदान करते हैं, अतः इन्हें ऊर्जा उत्पादक तत्त्व कहते हैं। स्वीकृत साधना के प्रति दृढ़ आस्था एवं संघ-संघपति के प्रति पूर्ण समर्पण एवं श्रद्धा संघपुरुष के लिए ऊर्जा उत्पादक एवं नियामक तत्त्व का कार्य करती है। इस आस्था एवं समर्पण के प्रभाव से संघ का हर सदस्य कार्यक्षम बन जाता है एवं विकास के नए क्षितिज पर आरोहण करने में समर्थ हो जाता है।

विटामिन एवं खनिज पदार्थ शारीरिक क्षमता बढ़ाते हैं, शरीर की रक्षा पंक्ति को दृढ़ बनाते हैं और शारीरिक क्रियाओं का नियमन करते हैं। अतः इन्हें संरक्षक एवं नियामक तत्त्व की संज्ञा देते हैं। मर्यादा एवं गुरु-आज्ञा संघ में रक्षण एवं नियमन का दायित्व निभाते हैं। संघ का कोई भी सदस्य स्वीकृत पथ से विचलित होता है तो गुरु-आज्ञा उसे संरक्षित कर लेती है, मर्यादा ढाल बन कर उसके लिए रक्षा कवच का निर्माण कर देती है।

शरीर के संचालन में जल-तत्त्व का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उससे शरीर का पोषण होता है और विजातीय तत्त्वों का निष्कासन होता है। ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की त्रिपथगा संघपुरुष का सम्यक् संचालन करती है। मल क्षय करके आत्म-विशुद्धि का सहज एवं सुखद अवसर प्रदान करती है।

संघ के सदस्यों में गुणात्मक विकास हो, इसका तेरापंथ के नेतृत्व ने सदैव ध्यान रखा एवं तदनुकूल प्रशिक्षण का क्रम भी बनाए रखा। यह परंपरा आज भी अपने विकसित रूप में अक्षुण्ण है। तेरापंथ का आचार्य केवल परंपरा का ही योगक्षेम वहन नहीं करते, अपितु संघ के हर सदस्य के योगक्षेम का वहन करने में सावचेत हैं। एक आचार्य का नेतृत्व तेरापंथ धर्मसंघ की सुदृढ़ता का मूल आधार है। संघ की सुरक्षा में आचार्य अहर्निश जागरूक रहते हैं। संतुलित पोषण की व्यवस्था उनके मुख्य करणीय कार्य का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा है। आचार्यों की सजगता एवं संघस्थ सदस्यों की आज्ञाशीलता एवं मर्यादाशीलता के फलस्वरूप तेरापंथ धर्मसंघ निरंतर वर्धमान है। इसकी वर्धमानता अक्षुण्ण बनी रहे तथा साधना के पथ पर अग्रसर साधकों को शरण प्रदान करता रहे—यही अभीप्सा। ❖

अचानक उसके मस्तिष्क में योजना को रूपायित करने का विकल्प उभरा। वह बोला—'मेरी समझ में तो चंद्रप्रभु मंदिर की अंधेरी कोठरी वाला स्थान इनके लिए उपयुक्त रहेगा। वहां दिन में ही रात का-सा साम्राज्य रहता है। हवा और प्रकाश, दोनों का प्रवेश भी वर्जित-सा है। सफाई नहीं होने से चमगादड़, टांटिए, बिच्छू आदि अनेक जीव वहां सहज रूप से निवास करते हैं। हजार वर्ष बीत गए मंदिर का जीर्णोद्धार हुए, इसलिए लोगों का आवागमन भी कम होता चला जा रहा है। और, सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वह स्थान यक्षराज एवं भूत-प्रेत आदि शक्तियों द्वारा अधिष्ठित है। आज तक रात्रि-प्रवास करके कोई भी व्यक्ति वहां से जीवित नहीं लौटा है।' शेष सभी साथी भी उसके विचार से सहमत हो गए।

अंधेरी ओरी का प्रकाश

समणी डॉ. कुसुमप्रज्ञा

मेवाड़ क्षेत्र में प्रकृति की गोद में बसा गांव केलवा, जिसकी प्राकृतिक छटा दर्शनीय ही नहीं, मन को भी आकृष्ट करती थी। पर्वतीय भूमि पर बसा होने के कारण केलवा की गलियां ऊंची-नीची और ऊबड़-खाबड़ थीं। विहरण करते हुए संत भिक्षु केलवा पहुंचे। भिक्षु को स्थान न देने की विषैली हवा चारों ओर फैल चुकी थी। अन्य स्थानों की भांति वहां भी आवास की समस्या मुंह बाए खड़ी थी। कंधों पर सामान रखे पांचों मुनि स्थान की गवेषणा में गली-गली घूमने लगे, पर स्थान देने को कोई भी तैयार नहीं हुआ। कुछ व्यक्ति—जो संत भिक्षु के प्रति सदाशय थे, वे भी समाज और संघ के भय से स्थान देने का साहस नहीं जुटा पाए। सर्वत्र एक ही भ्रांति फैलाई जा रही थी कि परंपरागत दान और दया का विरोध कर धर्म का मूलोच्छेद करने वाले भिक्षु को स्थान देने वाला स्वयं कठोरतम प्रायश्चित्त का भागी होगा। पूरे गांव में चक्कर लगाने पर भी स्थान नहीं मिला। इस विषम परिस्थिति में भी संत भिक्षु का मानस विचलित नहीं हुआ। विकट क्षणों में भी उनकी विवेक-चेतना मूर्च्छित नहीं हुई।

आचार्य भिक्षु बोधि दिवस
आषाढ़ शुक्ला त्रयोदशी
5 जुलाई, 2009

भिक्षु ने सोचा इस बार मूसलाधार वर्षा हुई है। चारों ओर पानी ही पानी हो गया है। नदी और नालों में उफान-सा आ गया है। तालाब और बावड़ियां भी छलकने लगी हैं। वर्षा की अधिकता से कच्चे रास्ते अधिकांशतया बंद हो गए हैं। आज

त्रयोदशी का दिन है। चातुर्मास की निकटता देख कर अब यह भी संभव नहीं कि अन्यत्र विहार कर दिया जाए। जैसे-तैसे यहीं पर स्थान की गवेषणा करनी होगी। दो संतों को उपकरणों के साथ एक वटवृक्ष के नीचे खड़ा करके मुनि भारमल्ल और टोकर के साथ भिक्षु पुनः स्थान की खोज में निकल पड़े।

—'भाई ! तुम्हारे यहां चातुर्मास के लिए स्थान मिलेगा ?'—एक सभ्य से दीखने वाले व्यक्ति से संत भिक्षु ने पूछा।

—'महाराज ! हमारे घर तो अतिथि आने वाले हैं।'—अन्यमनस्क भाव से उत्तर देता हुआ वह व्यक्ति घर के अंदर घुस गया।

'सामने वाले गृह स्वामी से पूछो। संभव है, वहां स्थान मिल जाए।' परेशान करने की दृष्टि से एक व्यक्ति बोला।

मुनि भारमल्ल जब उस मकान के पास गए तो वहां ताला लटक रहा था। उसी समय एक बालक आग्रह करके उनको अपने घर ले गया। भिक्षु को देखते ही पिता ने बच्चे को डांटते हुए कहा—'किसको बुला कर लाए हो? मेरा घर हर किसी के रहने के लिए खाली नहीं पड़ा है।'

बगल में खड़ा व्यक्ति झूठी सहानुभूति दरसाते हुए बोला—'आपको मेरे घर स्थान अवश्य मिलता, पर खेद है कल ही मकान में किराएदार आ गए हैं।'

संत भिक्षु समभाव से आगे बढ़ गए। बालमुनि भारमल्ल सोचने लगे कि इतने कम समय में चारों ओर ऐसा आतंक, घृणा और भ्रांति फैलाई गई है कि कोई स्थान देने को भी तैयार नहीं है। जो देना चाहते हैं, उन्हें यह भय है कि समाज से बहिष्कार जैसी स्थिति आ जाएगी। उनके विचारों को झटका तब लगा जब एक उद्दंड-सा दीखने वाला व्यक्ति उधर से गुजरा और बिना पूछे ही फट पड़ा—'जिसके निमंत्रण पर यहां आए हो, उसी से स्थान की याचना क्यों नहीं कर लेते?'

उसकी बात सुन कर संत भिक्षु न हतप्रभ हुए और न उद्विग्न ही। संघर्ष, विरोध और अपमान को नियति मान कर वे आगे बढ़ गए। चार-पांच आदमी आपस में बातें करते हुए सामने की गली में आते हुई दिखाई दिए। उनमें प्रौढ़-सा दीखने वाला एक व्यक्ति मंदस्वर में बोला—'...अपना अलग पंथ बनाने के लिए इन्होंने संघ से विच्छेद किया है। स्थान न मिलने से हमारे नगर की बदनामी होगी, अतः इन्हें ऐसा स्थान बताया जाए कि सांप भी मर जाए और लाठी भी न टूटे। स्थान भी दे दिया जाए और इनका अस्तित्व भी न रहे।'

अचानक उसके मस्तिष्क में योजना को रूपायित करने का विकल्प उभरा। वह बोला—'मेरी समझ में तो चंद्रप्रभु मंदिर की अंधेरी कोठरी वाला स्थान इनके लिए उपयुक्त रहेगा। वहां दिन में ही रात का-सा साम्राज्य रहता है। हवा और प्रकाश, दोनों का प्रवेश भी वर्जित-सा है। सफाई नहीं होने से चमगादड़, टांटिए, बिच्छू आदि अनेक जीव वहां सहज रूप से निवास करते हैं। हजार वर्ष बीत गए मंदिर का जीर्णोद्धार हुए, इसलिए लोगों का आवागमन भी कम होता चला जा रहा है। और, सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वह स्थान यक्षराज एवं भूत-प्रेत आदि शक्तियों द्वारा अधिष्ठित है। आज तक रात्रि-प्रवास करके कोई भी व्यक्ति वहां से जीवित नहीं लौटा है।' शेष सभी साथी भी उसके विचार से सहमत हो गए।

संत भिक्षु ने सोचा—सामने आने वाले ये लोग संभव है स्थान की समस्या समाहित कर सकें। तब तक वे चारों-पांचों आदमी करीब आ गए थे।

—'मुनिवर! इतना घूमने पर भी आपको स्थान नहीं मिला। चलिए, मैं आपको ऐसा एकांत स्थान बताता हूं, जहां आप आनंदपूर्वक चार्तुमासकाल व्यतीत कर सकते हैं।' अपनी धूर्तता छिपाते हुए वह व्यक्ति मृदु स्वर में बोला।

दूसरे साथी ने भी ऊपरी मुस्कान के साथ सहमति जताते हुए कहा—'चंद्रप्रभु मंदिर की अंधेरी ओरी में आपको ध्यान-स्वाध्याय में भी बाधा नहीं पड़ेगी। वहां आप शुद्ध आचार का पालन भी कर सकेंगे।'

—'आपके वहां विराजने से मंदिर में दर्शनार्थ एवं पूजा-पाठ हेतु आने वाले व्यक्तियों को भी धर्म-ध्यान का लाभ मिलता रहेगा।' तीसरे साथी ने भी अपनी कुटिलता छिपाते हुए कहा।

—'मुनिवर! आप व्यर्थ ही इधर-उधर घूमते रहे हैं। पहले ही हमसे मिल लेते तो आपको इतना कष्ट नहीं उठाना पड़ता।'—चौथे ने साथियों के सामने आंख दबाते हुए अपनी बात उगल दी।

संत भिक्षु उस स्थान की भयावहता से परिचित थे। वे उन लोगों के मनोभावों को भी पढ़ रहे थे, लेकिन परिस्थितियों को देखते हुए उन्हें स्थान की अत्यंत आवश्यकता थी। उन भाइयों की बात सुन कर भिक्षु के मन

में आशा की एक नई किरण फूट गई। केलवा के लोगों का व्यवहार देख कर तो उन्होंने स्थान की आशा ही छोड़ दी थी। अपने संतों के साथ संत भिक्षु अंधेरी ओरी पहुंचे।

—'मुनिवर! मैंने सुना है कि यहां रात्रि-प्रवास करने वालों की जीवित समाधि होती है।'—स्थान देख कर मुनि टोकर ने भयभीत स्वर में कहा।

—'मुझे ज्ञात है।' संत भिक्षु के स्वर में निर्भीकता थी।

'क्या हम दूसरे स्थान की खोज नहीं कर सकते?' आशंका से त्रस्त मुनि हरनाथ बोले।

—'नहीं'—संत भिक्षु का स्वर ओज से परिपूर्ण था—'हमें सदा निर्भय रहना चाहिए। अहित और आशंका के भय से यहां न रहने से संभव है कि हम हितकर संभावनाओं से दूर चले जाएं। फिर दूसरे स्थान की संभावना भी यहां नगण्य-सी दिखाई पड़ती है।'

संतों ने सोच लिया—'भिक्षु स्वामी उन व्यक्तियों में नहीं हैं जो संभावित खतरे या अनहोनी के विचार से त्रस्त या भयभीत होकर कोई कर्म ही न करे, या मैदान छोड़ कर पलायन कर जाएं।'—उन्होंने वर्तमान के यथार्थ को स्वीकार किया और भावी आशंकाओं को मन से निकाल दिया।

—'आप तो साहस के सागर हैं गुरुदेव! आपके मन की सारी आशंकाएं, भय और पीड़ा न जाने कहां जाकर सो गई हैं। आश्चर्य होता है आपके मनोबल को देख कर।' —मुनि भारमल्ल का स्वर भक्ति से ओत-प्रोत था।

—'मेरा दृढ़ विश्वास है कि यदि हमारा आत्मबल और आयुष्यबल प्रबल है तो संसार की कोई शक्ति हमारा बाल भी बांका नहीं कर सकती। यह हमारी साधना का परीक्षण काल है। जो लोग जरा से संकट में अपना कायर रूप प्रकट कर देते हैं, वे न अपने आचार की रक्षा कर पाते हैं और न ही अन्याय के विरोध में अपना स्वर बुलंद कर पाते हैं। सोना आग में तप कर ही निखरता है, गुलाब कांटों में खिल कर ही अपनी सुवास फैलाता है। चुनौतियों से जूझने के लिए ही हमने यह मार्ग अपनाया है। बोल भारमल्ल! तू इस विषय में क्या सोचता है?' —वात्सल्यमयी दृष्टि से बालमुनि भारमल्ल को देखते हुए संत भिक्षु बोले।

—'आपका कथन सत्य है मुनिप्रवर!' मुनि भारमल्ल बोले—'नए पथ पर चलने के लिए संकट और चुनौतियां तो झेलनी ही होंगी। ये बाधाएं भी शायद हमारा संकल्प परखने के लिए ही आ रही हैं।'

भावपूर्ण स्वरों में भिक्षु बोल उठे—'हम तो आचार्य रघु एवं विरोधी लोगों के अत्यंत कृतज्ञ हैं, क्योंकि उन्होंने हमारे आत्मबल और आत्मविश्वास को जगाया है।'

संत सोचने लगे—'संत भिक्षु का मन असाधारण रूप से उदार है। इनका संकल्प कभी पराजित नहीं होता।'

—'सचमुच हमारे जीवन का यह अद्‌भुत समय है।'—वार्तालाप को मोड़ देते हुए मुनि हरनाथ बोले।

—'आप लोगों को मेरे साथ कष्ट झेलना पड़ रहा है, इस बात का मुझे भान है। आप सबकी पीड़ा मेरी अपनी पीड़ा है। ...ध्यान रहे, विरोध और आक्रोश के इन क्षणों में हम कोई उग्र कर्म करेंगे तो हमारा यह अभियान व्यर्थ हो जाएगा। वर्तमान परिस्थितियों में न केवल आत्म-विश्लेषण, बल्कि समतापूर्वक सहना ही उचित होगा। इस बात को सदा याद रखना है कि सत्य और न्याय के मार्ग पर तो कठिनाइयां आएगी ही।'—वार्ता का उपसंहार करते हुए भिक्षु बोले।

बालमुनि भारमल्ल ने भूख और थकान से मुरझाए चेहरे पर हंसी लाने का प्रयत्न किया, पर संत भिक्षु से उनकी स्थिति छिपी नहीं रह सकी। सायंकालीन प्रतिक्रमण आदि से निवृत्त होकर सभी संत स्वाध्याय में लीन हो गए। यद्यपि आज उन्हें आहार नहीं मिला था, लेकिन उनके लिए आहार अब प्राथमिक चीज नहीं रह गई थी।

प्रहर रात बीत चुकी थी। झिलमिलाते तारे ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानो मोतियों की अनेक मालाएं एक साथ बिखर कर आकाश में फैल गई हों। चारों ओर नीरव निस्पंदता छाई हुई थी। हवा की सनसनाहट और झींगुरों की झनझनाहट से मंदिर का सुनसान वातावरण अवश्य झंकृत हो रहा था। संतों के मन में उथल-पुथल थी। कभी-कभी भय की लहर भी उनके मन को उद्वेलित कर जाती थी, लेकिन संत भिक्षु का साहस देख सभी आश्वस्त हो जाते। तभी बालमुनि भारमल्ल आवश्यक कार्य हेतु अंधेरी ओरी से बाहर गए। काफी समय बीतने पर भी जब मुनि भारमल्ल अंदर नहीं आए, तो भिक्षु ने आवाज दी—'भारमल्ल!'

—'तहत् गुरुदेव!'

—'तुमको कितना समय बीत गया बाहर गए हुए? क्या कर रहे हो वहां?'

—'मैं यहां बाहर खड़ा हूं, क्योंकि एक सांप ने मेरे पैर में लपेटे लगा रखे हैं'—अविचल स्वर में बालमुनि भारमल्ल ने कहा।

—'वत्स! तुम डरना मत, मैं अभी बाहर आता हूं'—कहते हुए संत भिक्षु बाहर आए। देखा कि सचमुच सांप ने भारमल्ल के पैरों को अपने लपेट में ले रखा है।

उनके मस्तिष्क में तत्काल स्मृति कौंधी कि यह स्थान यक्ष, भूत आदि से बाधित है, अतः अवश्य कोई दिव्यशक्ति का ही रूप होना चाहिए। भिक्षु ने गौरवभरी दृष्टि से भारमल्ल को देखा। अहो! कितना विशाल धैर्य है इस बालक का, जो महान उपसर्ग में भी निष्कंप और पर्वत की भांति अडोल खड़ा है, एक क्षण के लिए भी यह विचलित नहीं हुआ। भिक्षु ने नमस्कार महामंत्र का जप किया और मंगलपाठ सुनाते हुए कहा—'यदि कोई दिव्यशक्ति सर्प रूप में उपस्थित हैं तो वह अपने मूल रूप में प्रकट होवें।'

सहसा दिव्य प्रकाश के साथ एक दिव्य-पुरुष उनके सामने प्रकट हो गया। उस अलौकिक ज्योतिपुंज को देख कर एक बार संत भिक्षु और बालमुनि भारमल्ल की आंखें चुंधिया-सी गईं। इधर भिक्षु एवं भारमल्ल के अद्भुत साहस को देख कर वह देव भी चमत्कृत हो गया। दोनों के शरीर और आभामंडल की शुद्ध रश्मियों ने यक्षराज को प्रभावित किया।

मूर्तिमान, संयम और शांति के साक्षात रूप संत भिक्षु के चरणों में वह दिव्य-पुरुष प्रणत हो गया और बोला—'आपके संयम, अभय और अप्रमाद से मैं अत्यंत प्रभावित हूं। यह प्रथम अवसर है कि जब रात्रि-प्रवास करने वाला कोई व्यक्ति मेरे तेज का सामना कर रहा है। अधिकांश व्यक्ति तो इस स्थान के आतंक से ही निष्प्राण हो जाते हैं।'

—'यदि आपको असुविधा हो तो हम सूर्योदय होते ही यह स्थान छोड़ सकते हैं'—भिक्षु ने सधे स्वरों में कहा।

—'नहीं, मैं चाहता हूं कि आपकी उपासना का लाभ मुझे भी मिले।' यक्षराज ने मंद एवं संयत स्वर में कहा।

भिक्षु थोड़ा विचारमग्न होते हुए बोले—'यदि भविष्य में भी बालमुनि के पैरों में आप इस प्रकार...' भिक्षु अपनी बात पूरी कर पाते कि इससे पूर्व ही यक्षराज ने कहा—'आप चिंता न करें। आज तो मैंने आपके और बालमुनि के साहस की परीक्षा के लिए ऐसा उपक्रम किया है।'

—'जैसी आपकी इच्छा'—भिक्षु ने कहा।

—आप यहां सानंद चातुर्मासकाल बिताएं। मुझे भी आपकी उपासना और प्रवचन श्रवण का लाभ मिलेगा। एक बात ध्यान में रहे कि मंदिर के बाहर दो चौकियां हैं। उनमें दायीं चौकी पर आप बैठें और बायीं चौकी पर अदृश्य रूप से मैं बैठूंगा। आपके अलावा कोई भी उन चौकियों पर बैठने का प्रयत्न न करे। अन्यथा...।' भिक्षु ने यक्षराज को आश्वस्त किया और उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित की।

आचार्यश्री भिक्षु ने पूरी रात धर्म-जागरणा के साथ व्यतीत की। केलवा की अंधेरी ओरी का अंधकार प्रकाश में परिणत हो चुका था।

यही अंधेरी ओरी भिक्षु के प्रभाव से अब सबके लिए अभय और आश्रय का स्थान बन गई है। ❖

कृपया ध्यान दें

जैन भारती के लिए रचनाएं भेजते समय कृपया निम्नोक्त बिंदुओं का अवश्य ध्यान रखें—

● आपकी रचना कम से कम 1500-2000 शब्दों से लेकर 2500-3000 शब्दों के मध्य हो। कुछेक आलेख जैन भारती के एक पृष्ठ से भी कम आकार के होते हैं, जो हमारे लिए अपर्याप्त हैं। जैन भारती के लिए ऐसे आलेख काम में लेना संभव नहीं। अतः इतने छोटे आलेख न भेजें।

●● रचनाएं 'फुलस्केप' कागज पर एक तरफ हाथ से लिखी या टाइप की हुई हों। पूरा हाशिया अवश्य छोड़ें। दो पंक्तियों के बीच भी पर्याप्त स्थान होना जरूरी है।

●●● फोटोकॉपी न भेजें अथवा सुस्पष्ट हो तो ही भेजें।

कृपया उपरोक्त हिदायतों की ओर पूरा ध्यान देकर हमें सहयोग करें।

और सचमुच हुआ भी यही। हरकी की मौत के ठीक दसवें महीने यह रूपा पैदा हो गई थी। उम्र में छोटी होने के बावजूद भी हम इसे हरकी की स्थानापन्न मान कर 'जीजी' का दरजा देते आए हैं। रूपा के जन्म पर भी गांव में तरह-तरह की बातें फैली थीं। मेरी वजह से मेरे पिता का देर-सबेर कंकू काकी के वहां आना-जाना लगा ही रहता था। मेरी मां चूंकि बीमार रहती थी, इसलिए ज्यादा बाहर नहीं निकलती थी। मुझे नहीं मालूम कि पिताजी मां के कहने से मुझे संभालने आते थे या अपनी इच्छा से। बहरहाल रूपा के पैदा होने के बाद उनका आना-जाना ज्यादा ही बढ़ गया था। गांव के कुछ दिलजले लोगों ने हजारी काका के कान भी भरने शुरू कर दिए थे, पिताजी की इस वक्त-बेवक्त आवाजाही को लेकर। पर, हजारी काका शायद इस मामले में किसी दूसरी ही दुनिया के जीव थे।

रिश्तों का व्याकरण

भगवतीलाल व्यास

कहानी

यह जेठ महीने की एक जलती-उजलती दोपहर का जिक्र है। मैं बरसों बाद उस गांव की गलियों से गुजर रहा था, जिसमें कभी मेरा बचपन बीता था। वह तीस साल पुरानी बात होगी। इन तीस वर्षों में गांव में कुछ भी नहीं बदला था। वैसा ही धूल भरा रास्ता, गली के मोड़ पर हीरा तेली की पोल में जुगाली करता बूढ़ा और मरियल बैल। उससे थोड़ा आगे बढ़ कर रमजू तांगेवाले का मकान और फिर गणेशा मोची की दूकान। कुछ भी नहीं बदला है। सब-कुछ वही है। हीरा तेली की घाणी खींचने के लिए दूसरा बैल अवश्य आ गया हो और रमजू का तांगा अब उसका बेटा इब्राहिम चलाता हो। तांगे में तभी तो फिल्मी एक्ट्रेसों की तस्वीरें लगी हैं और गणेशा मोची ने देशी जूतों को ताक में रखने की बजाय दीवार पर कीलियों के सहारे टांगना शुरू कर दिया है। शायद देशी जूतों के साथ-साथ अब वह कारखानों में बने रबड़ के जूते भी रखने लगा है। जब से गांव का चमड़ा ऊंचे दाम पर शहर में बिकने लगा है, देशी जूता ग्राहक को भारी पड़ता है और वह बरसाती जूतों से बारह महीने निकालने लगा है। इसीलिए गणेशा ने रबड़ के जूते भी रखने शुरू किए हैं। इसमें झिक-झिक भी कम है और आमदनी अच्छी है। बस, इसके सिवा कुछ नहीं बदला है।

राजस्थानी गांव-राजस्थानी ही क्यों, कोई भी

हिंदुस्तानी गांव इससे अधिक बदल भी नहीं सकता। गांव की नींवें गहरी होती हैं और दरख्तों की जड़ें मजबूत। शहरी पेड़ों की जात ही दूसरी होती होगी। वे बहुत जल्दी उखड़ जाते हैं। शायद बदल भी जाते हैं।

हां, मैं भी तो बहुत बदल गया हूं। शहर जाकर गांव का आदमी मौसम की तरह बदल जाता है। मिजाज में वह कितना बदलता है, यह बात अलग है, पर दीखने में वह जरूर बदल जाता है, एड़ी से चोटी तक। मुझे ही लीजिए, तीन रुपये की देसी जूता जोड़ी पर चार आने का निखालिस तिल्ली का तेल चुपड़ने के बाद साल भर की छुट्टी हो जाती थी। अब तीन रुपयों की तो पालिश हो जाती है, सप्ताह भर में। टेरीकोट की बेहतरीन पेंट और पॉलिस्टर की शर्ट पहने, धूप का चश्मा लगाए गांव की संपूर्ण पृष्ठभूमि में अजनबी-सा लग रहा हूं। तेज धूप के कारण पसीने की बूंदें मेरे पाउडर पोतित चेहरे पर चुहचुहा आई हैं। पसीने और पाउडर की मिश्रित गंध कैसी अजीब-सी लग रही है। मेरे नथुनों में गांव की मिट्टी की गंध घुस रही है और मुझे भली लग रही है। आज पहली बार जाना कि गंध का भी अपना व्यक्तित्व होता है, जो परिवेश के साथ बदल जाता है। हाथ में लटकी अटैची से और ज्यादा परेशानी का अनुभव कर रहा हूं। मगर क्या किया जाए, मजबूरी जो ठहरी। पहले सोचा था कि इस मौके पर अजित को भेज दूंगा, पर न जाने रूपाजीजी को कैसा लगे—यह सोच कर खुद ही चल पड़ा।

पिछले महीने के आखिरी रविवार की ही तो बात है। सो कर उठा ही था। बंगले के लोन पर टहलता हुआ ब्रश कर रहा था कि एक तांगा आकर फाटक पर रुका। ठेठ देहाती वेशभूषा में एक अधेड़ महिला ने बगल में गठरी दबाए हुए अंदर प्रवेश किया। पोर्च में बैठा हुआ टोमी सजग हो गया। गनीमत थी कि वह जंजीर से बंधा था। पहले क्षण तो मैं भी नहीं पहचान पाया, लेकिन उसने मुझे देखते ही पहचान लिया—'अरे भाया, बंगलो घणो छेटी बणायो रे।'—उसने बड़ी सहजता से गठरी वहीं लोन पर रख दी और मुझे लाड़ करने के लिए आगे बढ़ी। अब मैं पहचान गया था कि वह रूपाजीजी है। मैं संस्कारवश उसके चरणों में झुकने को उद्यत हुआ, पर उसने मौका ही नहीं दिया। बीच में ही मुझे थाम कर मेरे गालों पर हाथ फिराने लगी। एक वात्सल्यपूर्ण ठेठ आत्मीय स्पर्श, जिसमें मेरा सारा साहबी रोब-दाब बह गया था। हेज की कटिंग करता माली भी यह दृश्य देख कर भौचक्का रह गया था। टोमी अब शांत होकर पंजों में मुंह दबाए ऊंघने लगा था। पत्नी तथा बच्चे अंदर थे।

मैंने उलाहने के स्वर में कहा—'तुमने कागज क्यों नहीं लिखवा दिया जीजी, मैं स्टेशन पर लेने आ जाता। बड़ी परेशानी हुई होगी, तुम्हें यहां तक पहुंचने में।'—जीजी ने आर्द्र हो आए नेत्रों को ओढ़नी से पोंछ कर मुस्कराने का प्रयास किया और बोली—'नहीं रे, जरा भी प्रेसानी न्हीं वी मनैं।'—कुशल-क्षेम के बाद उसने अपने आने का प्रयोजन बताया। रूपाजीजी की सबसे छोटी बेटी राधा की शादी है और वह हम सबको पंद्रह दिन पहले लेने आ गई है। उस सरलहृदया को क्या मालूम कि हम शहरी लोगों को शादी-ब्याह के लिए इतना अवकाश नहीं मिलता। मैंने अपनी विवशता प्रकट की तो उसने पत्नी और बच्चों को भेज देने का आग्रह किया। खैर, किसी तरह पत्नी की बीमारी और बच्चों की परीक्षा के मनगढ़ंत कारण बता कर उसे दूसरे दिन विदा किया। विदा के समय उसकी आंखें नम थीं। इस नमी में नाराजगी, शिकायत और विवशता के साथ-साथ शुद्ध अपनापा भी था।

राधा की शादी का दिन नजदीक आता गया। आखिर एक दिन मैंने पत्नी को कह ही दिया कि आज बाजार चल कर रूपाजीजी और राधा के लिए कुछ कपड़े-लत्ते और बींद राजा के लिए कोई उपहार खरीद लिया जाए। बहिन के यहां शादी है, कोई हंसी-मजाक तो नहीं। कम से कम दो हजार का खर्च है। मेरा प्रस्ताव सुन कर ऋचा एकदम तुनक पड़ी—'मेरे पास तो इस समय रुपया है नहीं, तुम जानो तुम्हारा काम जाने, मेरी बला से।' मैंने युक्ति सुझाई—'जो रकम बचा कर रखी है, उसमें से निकाल लेते हैं।' मेरे इस सुझाव ने पत्नी की क्रोधाग्नि में घी का काम किया।

—'आपका दिमाग भी खूब है! यह नहीं होने का। आप शादी में खर्च करना इतना ही जरूरी समझते हैं तो और कोई बंदोबस्त कीजिए। फिर वह देहातिन आपकी कौन-सी सगी बहिन है।'

पत्नी का अंतिम वाक्य मुझे अंदर तक बेध गया। यह सही है कि रूपाजीजी मेरी सहोदरा नहीं और न ही चचेरी, मौसेरी बहिन। मगर रिश्तों की प्रामाणिकता खून से ही मापी जाए, यह जरूरी तो नहीं। कई बार दूध खून से भी गाढ़ा हो सकता है। इस बात को पत्नी जानती है।

तब मैं तीन महीने का रहा होऊंगा। मुझे मेरी मां का दूध लगता था। पिताजी ने हजार कोशिशें कर डालीं। वैद्य-हकीम, डॉक्टर, झाड़-फूंक—सबकुछ। सयानों का एक ही मत था कि यदि दूध का कोई माकूल बंदोबस्त न किया गया तो छोरा हाथ से जाता रहेगा। मैं अपने पिता की चौथी संतान था। मुझसे पहले मेरे तीन भाई इसी तरह गल-गल कर ईश्वर को प्यारे हो चुके थे। डिब्बों के दूध का चलन उन दिनों था नहीं। और अगर बड़े शहरों में रहा भी हो, तो देहात में यह झंझट कौन पालता? पिताजी गांव में खूब घूमे। घर-घर तलाश किया कि ऐसी कोई महिला मिल जाए जो मुझे भी अपनी संतान के साथ-साथ दूध पिलाती रहे। आखिर एक दिन उनकी कोशिश रंग लाई। हजारी गूजर की दुहानू कंकू काकी जब पीहर से आई तो उसकी गोद में एक फूल-सी बच्ची थी—चार-पांच माह की। पिताजी ने हजारी काका से बात की। उन्होंने पहले तो आना-कानी की, फिर कई तरह से समझाने पर उन्होंने कहा—'आप घरवाली से पूछ देखो। थन तो उसका धन है। वह चाहे तो आपके बच्चे को भी पिलाए। मुझे क्या?'—निराश हो आए पिताजी की आंखों में आशा की किरण कौंध गई। उन्होंने कंकू काकी के सामने प्रस्ताव रखा और कहा कि वे इसके एवज में खुराक के लिए बीस रुपए माहवार दे दिया करेंगे। कंकू काकी बीस रुपए माहवार की बात सुन कर एकदम बिफर गई।

—'पांडिज्जी, हम गूजर जरूर हैं। जानवरों के दूध का बेपार करते हैं, औरत के दूध का नहीं। आइंदा ऐसी बात की तो मुझ जैसी बुरी कोई न होगी। रही बात तुम्हारे टाबर को थन पिला कर 'उछेरने' की तो मुझे कोई दूध में जावण तो डालना नहीं है। आज से एक थन हरकी का (यही नाम था कंकू काकी की बेटी का) और दूसरा तुम्हारे टाबर का। जाओ, संजूया को छोड़ जाना टाबर को मेरे यहां।'

पिताजी यह सुन कर सकते में आ गए। संध्या को मैं कंकू काकी की गोद में था और मेरे पिता निश्चिंत हो चुके थे। डेढ़-दो साल की उम्र होने तक मैं कंकू काकी के पास ही रहा। इस बीच में मेरी अपनी मां—जिसे मैं भूल चुका था, कभी-कभी आती और मुझे देख जाती। मेरी देह कंकू काकी का दूध पीकर परवान चढ़ गई थी। मगर इस बीच एक हादसा गुजर गया। हरकी की मौत सचमुच एक हादसा था। गांव का माहौल। लोगों ने तरह-तरह की बातें शुरू कर दीं। बड़ी-बूढ़ी औरतों की दृढ़ मान्यता थी कि पंडितजी की संतानों के पीछे किसी जिन्न की छाया है। इस बार पंडितजी ने किशन को अपने घर से परे कर दिया तो उसकी शरणदात्री कंकू को भुगतना पड़ गया। मगर धन की 'जाई' कंकू काकी ने उफ् तक न की। वह तन और मन से मुझे अपना बेटा मान चुकी थी। एक दिन तो उसने कानाफूसी करती औरतों के मुंह पर हमेशा के लिए ही ताला लगा दिया।

—'हरकी नहीं रही तो क्या, किशन तो बच गया! अब पता नहीं पंडितजी को कोई टाबर-टींगर हो न हो। मेरा क्या है, मैं तो और जन लूंगी।'

और सचमुच हुआ भी यही। हरकी की मौत के ठीक दसवें महीने यह रूपा पैदा हो गई थी। उम्र में छोटी होने के बावजूद भी हम इसे हरकी की स्थानापन्न मान कर 'जीजी' का दरजा देते आए हैं। रूपा के जन्म पर भी गांव में तरह-तरह की बातें फैली थीं। मेरी वजह से मेरे पिता का देर-सबेर कंकू काकी के वहां आना-जाना लगा ही रहता था। मेरी मां चूंकि बीमार रहती थी, इसलिए ज्यादा बाहर नहीं निकलती थी। मुझे नहीं मालूम कि पिताजी मां के कहने से मुझे संभालने आते थे या अपनी इच्छा से। बहरहाल रूपा के पैदा होने के बाद उनका आना-जाना ज्यादा ही बढ़ गया था। गांव के कुछ दिलजले लोगों ने हजारी काका के कान भी भरने शुरू कर दिए थे, पिताजी की इस वक्त-बेवक्त आवाजाही को लेकर। पर, हजारी काका शायद इस मामले में किसी दूसरी ही दुनिया के जीव थे।

आज हजारी काका भी नहीं है। कंकू काकी भी नहीं है, पर मुझे अपनी पत्नी के कहे पर उन दोनों की याद गहरे तक साल गई। कहां वे अनपढ़, किंतु उदारमना गूजर दंपती और कहां यह डिग्री-धारिणी तथाकथित सभ्य और सुसंस्कृत परिवार से आई मेरी पत्नी—ऋचा। जो भाषा इसने पढ़ी है, उसमें स्नेह और ममत्व के लिए शायद जगह ही नहीं है। तभी तो वह ऐसी बात कह गई, अन्यथा ऐसी बात कभी नहीं कही जाती। रिश्तों का व्याकरण कुछ दूसरा ही होता है, जो स्कूली किताबों में नहीं मिलता।

अटैची में सचमुच बड़ा वजन हो गया था। रूपाजीजी के लिए लाए गए कपड़े-लत्ते भी इसी में थे। जिस मोड़ से गूजरों का मोहल्ला शुरू होता था, वहीं मोहन मिल गया—रूपाजीजी का बड़ा लड़का। मुझे देखते ही पहचान

गया। धोक लगाई और हाथ से अटैची लेकर ऐसा छू-मंतर हो गया कि मैं देखता ही रह गया। जो अटैची मुझे पहाड़ जैसी भारी लग रही थी, उसे वह फूल-सा उठाए भागा जा रहा था।

मिट्टी से लिपा-पुता सुंदर-सा बहुत बड़ा मकान और उससे भी बड़ा चौक। रंगीन कागजों की फर्रियां और यत्र-तत्र पड़े जूठे पत्तल-दोने—इस बात की घोषणा कर रहे थे कि शादी वाला घर यही है। मेरे आने की खबर मेरे पहुंचने से पहले ही सारे घर-परिवार में पहुंच चुकी थी—'मामाजी आ गए, मामाजी आ गए।'—खाना-पीना शायद हो चुका था। मेहमान लोग चौक में बिछी खटियाओं पर आराम कर रहे थे। कुछ लोग झुंड बना कर बतिया रहे थे। एक तरफ कुछ विद्यार्थी किस्म के लोग जमे थे और पास रखे ट्रांजिस्टर से विविध भारती सुन रहे थे। कुल मिला कर एक बेफिक्री और आमोद-प्रमोद का वातावरण था। मेरी उपस्थिति ने बिरादरी के अपरिचित लोगों में कुछ जिज्ञासा के भाव भी पैदा किए, जिसका निराकरण शीघ्र ही जानकार लोगों द्वारा कर दिया गया। मैं शीघ्र ही उस समूह के एक प्रमुख अंग के रूप में स्वीकार कर लिया गया। मुझे अच्छा लगने लगा।

राधा की शादी संपन्न हो गई। दूर-दराज के रिश्तेदार विदा होने लगे। मैंने भी छुट्टी खत्म हो जाने का बहाना बना कर विदा चाही, तो रूपाजीजी अधिकारपूर्वक बरस पड़ीं और मेरे हाथ से अटैची छीन कर धान के कोठे में डाल दी। शहरी सुविधाओं के अभ्यस्त मेरे शरीर को जरूर यहां के वातावरण में कष्ट हो रहा था, पर जो आत्मीय आतिथ्य यहां प्राप्त हो रहा था, उसकी अवज्ञा भी मैं कैसे करता!

दो-दिन और रुकने के बाद ही मुझे छुट्टी मिल सकी। चलते समय रूपाजीजी ने छबड़ी भर लड्डू बच्चों के लिए बांध दिए। फिर कुछ याद-सी करती घर के अंदर गई और एक बोरी ले आई। मैं समझ नहीं पा रहा था कि बोरी का क्या होगा? उसने मोहन को हांक लगाई कि दो तगारी मूंगफली तो ले आए। मैं मना करने लगा—'दो तगारी मूंगफली का क्या करना है?'

—'करना क्या? मेरे बच्चे खाएंगे। तुम क्या जानो कच्ची मूंगफलियों का स्वाद!'—रूपाजीजी ने दो-टूक उत्तर देकर मुझे चुप कर दिया।

दो तगारी मूंगफली और एक छबड़ी लड्डू। लगभग बीस किलो वजन हो गया था बोरी में। मोहन उसे कंधे पर रखे, हाथ में अटैची लिए बस स्टैंड तक पहुंचाने आया। मैंने उसके हाथ पर कुछ रुपए रख दिए। बस आने में अभी देर थी। मैं बस स्टैंड पर बने टपरीनुमा घास-फूस की होटल के बाहर रखी बेंच पर रूमाल बिछा कर बैठ गया था। थोड़ी देर में बस आ गई थी।

मोहन का आस-पास कहीं पता नहीं था। मुझे थोड़ा क्रोध भी आया। अब यह सामान बस पर कौन चढ़ाएगा? मैं सोच रहा था कि मोहन कितना लालची है, रुपए लेते ही चंपत हो गया! तभी मोहन गांव की ओर से दौड़ता हुआ आता दिखाई दिया। उसके हाथ में कागज का एक पैकेट था। उसने सामान बस पर चढ़ाया। कंडक्टर ने घंटी बजाई और बस 'स्टार्ट' हुई। मोहन ने फिर मेरे पैर छुए और सीट पर बैठने के बाद कागज का वह पैकेट मेरी ओर बढ़ा दिया। मैं उसे खोल कर देखता, इससे पहले स्टैंड छोड़ कर बस काफी आगे बढ़ चुकी थी। मैंने देखा उस पुड़के में कुछ खट-मीठी गोलियां और गुब्बारे थे। अब मेरी समझ में आया कि मैंने मोहन को जो रुपए दिए थे उसी से वह अपने भाई-बहिनों के लिए यह भेंट खरीदने गया था। मेरी आंखें उस अबोध के लिए नम हो उठीं।

मैं घर पहुंचा तब तक रात के साढ़े ग्यारह बज चुके थे।

ऋचा को मैंने वह बोरी और मोहन की दी हुई सौगात सौंपी तो बुरा-सा मुंह बनाते हुए बोली—'यह क्या है? क्या घर भर को बीमार डालने का सरंजाम उठा लाए हो? ये बासी से लड्डू, कच्ची मूंगफलियां, ये सड़ी-सी गोलियां और सस्ते गुब्बारे? अगर मेरे बच्चे यह सब खाएं, तो बीमार न हो जाएंगे? और तब इससे दुगुने पैसे दवाई में स्वाहा हो जाएंगे!' उसने एक सांस भर फिर कहा—'अच्छा हुआ तुम बच्चों के सोने के बाद आए हो। मैं बच्चों को इन सबकी हवा भी नहीं लगने दूंगी। बरतन मांजने वाली और बागवान में यह सब बांट दूंगी।'

इतना कह कर ऋचा ने वह बोरी जीने के नीचे वाले स्टोर में रख दी, जहां कोयले, लकड़ी वगैरह रखे जाते हैं।

मैं बत्ती बंद कर सोने की कोशिश कर रहा हूं। बोरी में कच्ची-अच्छी मूंगफली और शुद्ध घी के लड्डू रखते समय रूपाजीजी की वह स्नेहिल चितवन, मोहन की दुगुनी रफ्तार से दौड़ती नंगी टांगें और मुझे पैकेट थमाते हुए उसकी मूक अभ्यर्थना कि—'मेरी यह भेंट मेरे भाई-बहिनों तक अवश्य पहुंचा देना'—और इन सबको नकारते हुए उपहारों

शेष पृष्ठ 58 पर

भवानीप्रसाद मिश्र की कविताएं

•

आश्वास-वाणी

रुको और झुको
और समझो कि मैं
भगवान हूं
मैं तुम्हारे रथ पर बैठूंगा
और गति दूंगा उसे

उतनी और वैसी
जितनी और जैसी
जरूरी है
इस संगर को जीतने के लिए
अधिक नहीं हैं
अठारह दिन
किसी भी ख्याल से बीतने के लिए

मगर तुम
अठारह के आधे
नौ अक्षौहिणी
मरने-मारने वालों को जुटाओ

कम से कम
अपना प्राण
इस तरह लुटाओ
भर कर मुट्ठी में
जैसे होली के दिन
उड़ाते हैं बच्चे अबीर और गुलाल

रुको और झुको और समझो
कि आते हैं भगवान
कठिन हर क्षण में
विराट होकर

जूझो तुम अठारह दिन
इस संगर को जीतने के लिए
अधिक नहीं हैं
अठारह दिन
किसी भी ख्याल से बीतने के लिए

•

आश्वस्त

मैं रुका हूं और झुका हूं
आप आएं
और मेरा रथ चलाएं

और अठारह दिन आपने
ठीक ही कहे हैं
संघर्षों के दिन हमेशा
अठारह ही रहे हैं
समय का मान
पक्षों के हिसाब से चलता है

अवधि मैंने समझ ली है
आप आइए
मेरा रथ चलाइए
रथ के लक्षण
आपने बता दिए थे
यह वही रथ है आइए

अगर आप
किसी झंझट में
आ नहीं पाएंगे
तो आपके हजार नाम
रथ को चलाएंगे
शौर्य और धैर्य के चक्र
घरघराएं
सत्य और शील की पताका उड़ेगी
रिक्त नहीं होगा तूणीर
अचल और अमल मन का

पराई पीर के सिलसिले में
इस रथ पर चढ़ा हूं मैं
न्याय और संतोष
विरति और विज्ञान को सोचकर
आगे बढ़ा हूं मैं!

•

याचना

मुझे तुम
अपनी अनजानी गति दे दो
और दे दो
अपनी अनबोली आवाज
ओ, सवेरे की किरनो
कि मैं
सब जगह
हवा से भी हल्का उतरूं
और जान जाएं सब
कि मैं आ गया हूं
जैसे जान जाते हैं
पंछी और फूल और पवन
तुम्हारा आगमन। ❖

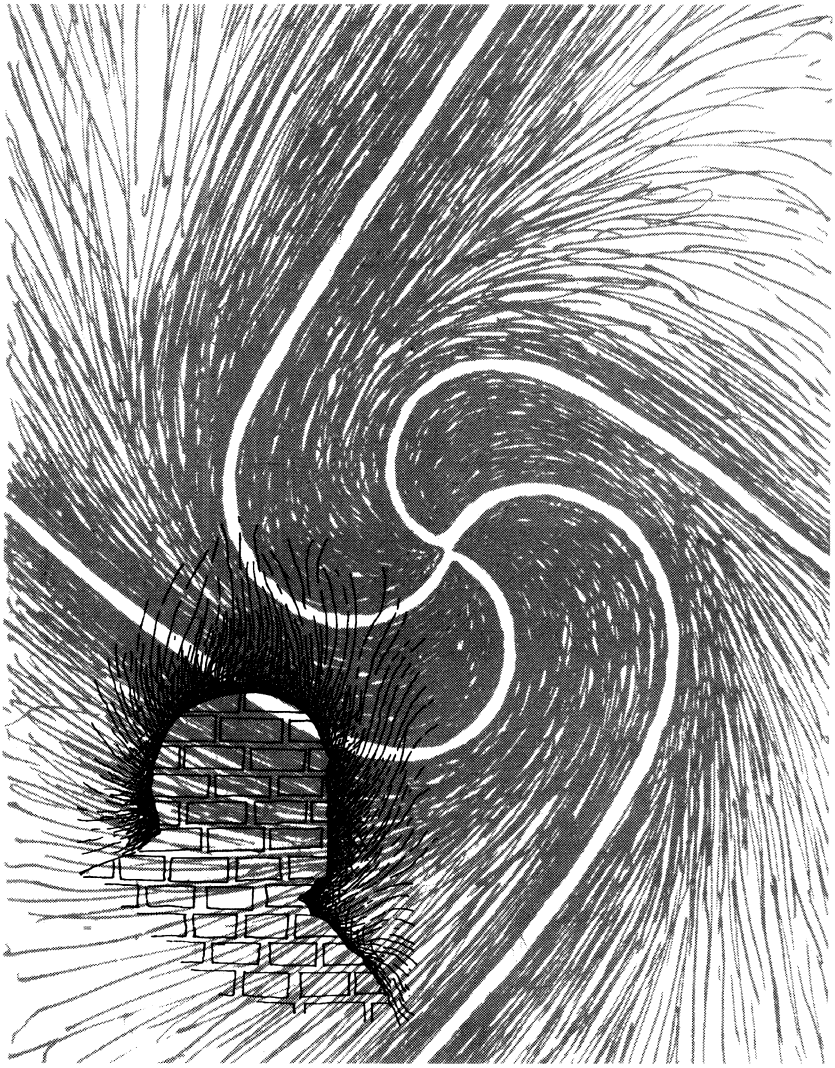

शीलन

हिंदू धर्म के मूलभूत सिद्धांत के रूप में आमतौर पर सनातन धर्म को मंजूर किया जाता है, सनातन धर्म, जैसा कि उसके नाम से प्रभाषित होता है, धार्मिक तौर पर एक मान्य सामाजिक सिद्धांत है जो अनादि होने का दावा करता है, बशर्ते उसका सही तौर पर परिपालन हो। यह कहा जाता है कि भारत की मौजूदा हालत इसलिए हुई है, क्योंकि हम सनातन धर्म में निहित अंतिम सत्य के पथ से मुकर गए। एक बार फिर उसी रास्ते पर लौट आएं तो भारत फिर उसी स्वर्ण युग में पदार्पण करेगा और आज की भौतिकता से दुखी विश्व के सामने मिसाल कायम करेगा। यहां पर यह नहीं बताया जाता है कि भारत क्यों अपने रास्ते से मुकर गया। क्यों भारत का आध्यात्मिक विवेक अपनी राह पर चलने से भटक गया। फिर आदर्श खुद अपने में एक पहेली है। इसकी तरह-तरह से टिप्पणी की गई है—एक धर्म, एक आस्था, एक दार्शनिक व्यवस्था, एक नैतिक परंपरा। प्राचीन काल में वह कुछ भी रहा हो, हमें तो उसकी मौजूदा परिपालन की व्याख्या करनी है जो दुनिया को सभी मर्जों की दवा बताने का दावा करता है।

—एम.एन. राय

प्रतिकूल व अपमानजनक घटनाओं का सकारात्मक रूप में स्वीकरण आचार्यश्री भिक्षु की उत्कृष्ट सहिष्णुता का उदाहरण है। 'सीओ सिणच्चाई से निग्गंथे'—जो अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थिति में सहिष्णु होता है, वह कष्ट का वेदन नहीं करता है। आचारांग का यह सूक्त आचार्यश्री भिक्षु के जीवन में अक्षरशः घटित होता है।

भिक्षु! एक ऐसा नाम, जिनका सर्वस्व समर्पित था—महावीर के प्रति। जिनाज्ञा जिनका लक्ष्य था। हर सिद्धांत को जिनाज्ञा की कसौटी पर कसने का प्रयत्न उन्होंने किया—'आणाए मामगं धम्मं'—उनका आदर्श था।

चल पड़्या चरण मंजिल रे पथ

समणी मधुरप्रज्ञा

पाश्चात्य विचारक एन ब्रेड स्ट्रीट का कथन है—विपत्ति आपको बना भी सकती है और मिटा भी सकती है। जो हथोड़ा कांच को तोड़ देता है, वही लोहे को धारदार बनाता है। विजयश्री खतरों से खेलने वालों का ही वरण करती है। तेरापंथ के आद्य प्रवर्तक आचार्यश्री भिक्षु का नाम एक ऐसे ही व्यक्तित्व का नाम है—जिन्होंने शुद्ध साध्य की प्राप्ति के उद्देश्य से अपना कदम संसार से संन्यास की दिशा में आगे बढ़ाया। उस शुद्ध साध्य की प्राप्ति के लिए साधन के संदर्भ में शुद्धता को बरकरार रखा। किसी समझौते को साधन-शुद्धि के बीच न आने दिया और इसीलिए अनेक विपत्तियों, खतरों के बीच से अपनी राह तय करते हुए मंजिल की ओर आगे बढ़े।

आचार्य भिक्षु बोधि दिवस

आषाढ़ शुक्ला त्रयोदशी
5 जुलाई, 2009

लक्ष्य की ओर गतिशीलता और सफलता के लिए आज 'आई. क्यू.' और 'इ. क्यू.' के साथ 'ए. क्यू' को भी अनिवार्य माना जा रहा है। 'ए. क्यू' का अर्थ है—'एडवर्सिटी क्वोशंट'। अर्थात् आने वाली विपत्ति को पहले ही भांप लेना, पहले ही यह अनुमान लगा सकें और उसका उचित तरीके से प्रतिकार किए जाने के लिए भी स्वयं को व संसाधनों को तैयार कर सकें। सफलता का सच्चा निर्धारक 'ए. क्यू' ही है। समझ का प्रायोगिक पक्ष इसी में निहित है। समय के साथ कैसे संघर्ष का सामना किया जा सकता है, इस तथ्य का विश्लेषण करने वाले अनेक आदर्श हो सकते हैं, लेकिन—'कैसे किया'—व्यक्ति में निहित उसकी आंतरिक चेतना ही इसमें एक मात्र निमित्त बनती है।

ऐसे क्षण ही उसके व्यक्तित्व को बनाने या मिटाने वाले होते हैं। सौभाग्य से आचार्यश्री भिक्षु के सामने संघर्षों के जो तूफान आए और उन्होंने जिस रूप में उनका सामना किया, वे उनके व्यक्तित्व और कर्तृत्व में चार चांद लगाते चले गए। कुछ प्रसंगों के आलोक में इस सचाई का साक्षात्कार किया जा सकता है—

महान ध्येय की छत्र-छाया में चलते चले जा रहे भिक्षु को छत की छाया सहज सुलभ न थी। सत्य-क्रांति के श्रीगणेश के साथ ही व्यावहारिक बाधाओं का श्रीगणेश भी हो गया। प्रथम रात्रि-प्रवास के लिए उस स्थान की शरण लेनी पड़ी, जिसे लोग अंतिम आश्रय के रूप में जानते हैं। कहा गया—

बगड़ी री श्मसान भूमि
छतरी में रोक्या प्रथम चरण।
आंधी तूफानां बीच, अटल
अरहंत सिद्ध मुनि धर्म शरण।
अंतर्मुख बण कर ली भिक्षु
अब एक नई अंगड़ाई है।
चल पड़्या चरण मंजिल रे पथ
तब बजी धर्म शहनाई है।।

प्रथम चातुर्मास का अवसर आया, स्थान कौन दे? कहां से मिले? चारों और तथाकथित हितैषी लोग! वे चाहते ही थे कि कोई ऐसा उपाय किया जाए कि सांप भी मर जाए और लाठी भी न टूटे। इसी से प्रेरित हो संकेत कर दिया—अंधेरी ओरी की ओर। अंधेरी ओरी—ऐसा स्थान, जहां पर प्रवास का तात्पर्य था सदा-सदा के लिए सो जाना।

साधना-तपस्या और शुद्ध साध्य का संकल्प भिक्षु के साथ था। स्थान की अनुज्ञा के साथ ही प्रवास प्रारंभ किया। प्रथम रात्रि बीती। लोगों ने आश्चर्य के साथ सुबह भिक्षु को देखा। तपोपुंज का आभावलय उज्ज्वल ही हुआ है, मंद या मलिन नहीं। कारण की खोज हुई। आश्चर्य के साथ श्रद्धा-प्रतीति-रुचि और अस्थि मज्जा तक धर्मानुराग भिक्षु के प्रति गहराता गया। यह अंधेरी ओरी किसी यक्ष का प्रभाव क्षेत्र थी और यक्ष इतना क्रूर कि किसी को कुछ बख्शता नहीं था, पर इसी यक्ष ने भिक्षु को नया प्रकाश प्रदान किया।

जे. विलियर्ड मैरियट ने कहा है—अच्छे पेड़ आसानी से नहीं उगते। हवा जितनी तेज होगी, पेड़ उतने ही शक्तिशाली होंगे। पर, यह शक्ति आती कहां से है? एक उत्तर सूझता है—सहिष्णुता से और आचार्यश्री भिक्षु के इर्द-गिर्द, भीतर-बाहर सहिष्णुता ही सहिष्णुता थी। ऐसा प्रतीत होता है कि उपशम (सहिष्णुता) की साधना से उनका जीवन कवचित था। कोई भी प्रिय-अप्रिय घटना उनको छू नहीं सकती थी।

कुछएक घटनाएं द्रष्टव्य हैं—अपने-आप को पराजित समझ किसी ने उनकी छाती पर मुक्का दे मारा। बात करते-करते कोई सिर पर ठोला मार गया। अपनी उत्कृष्टता दिखाते हुए किसी ने कह दिया—भीखणजी! तुम्हारा मुंह देखने वाला नरक में जाता है। द्वेष वशीभूत किसी ने अनेक अवगुण भिक्षु में बतलाए। इन सभी परिस्थितियों में भी भिक्षु ने अपना संतुलन खोया नहीं। अपमान की ऐसी घटनाओं में भी भिक्षु की टिप्पणी सकारात्मक ही रही—भाई! तेरा मुंह देखने वाला कहां जाएगा? गर्व के साथ उत्तर मिला—मेरा मुंह देखने वाला स्वर्ग में! भिक्षु ने कहा—जिसे नरक मिले—वह अपनी जाने। मुझे तो स्वर्ग ही मिलेगा।

सिर पर ठोला मारने वाले पर भी सकारात्मक सोच का भाव—'बाजार से एक रुपए का घड़ा लाते समय भी व्यक्ति टकोरा लगा कर परीक्षण करते हैं। गुरु बनाने से पहले यह भी परीक्षण करता होगा।'

157 दोषों की सूची प्रस्तुत करने पर प्रसन्नता व्यक्त करना और अहोभाव के साथ कहना—'कुछ वे निकालेंगे, कुछ 'मैं'—मुझे तो सारे दोष निकालने ही हैं। ये मेरी साधना में सहयोगी बन रहे हैं।'

प्रतिकूल व अपमानजनक घटनाओं का सकारात्मक रूप में स्वीकरण आचार्यश्री भिक्षु की उत्कृष्ट सहिष्णुता का उदाहरण है। **सीओ सिणच्चाई से निग्गंथे**—जो अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थिति में सहिष्णु होता है, वह कष्ट का वेदन नहीं करता है। आचारांग का यह सूक्त आचार्यश्री भिक्षु के जीवन में अक्षरशः घटित होता है।

भिक्षु! एक ऐसा नाम, जिनका सर्वस्व समर्पित था—महावीर के प्रति। जिनाज्ञा जिनका लक्ष्य था। हर सिद्धांत को जिनाज्ञा की कसौटी पर कसने का प्रयत्न उन्होंने किया—**आणाए मामगं धम्मं**—उनका आदर्श था।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने आचारांग भाष्य में आज्ञा के तीन अर्थ किए हैं—आगम, अंतर्दृष्टि एवं सूक्ष्म पदार्थों का ज्ञान। अंतर्दृष्टि संपन्न आचार्यश्री भिक्षु ने आगमों के सूक्ष्म

रहस्यों को पकड़ा और तर्क की कसौटी पर कसते हुए कुछ मौलिक सिद्धांतों को प्रतिपादित किया। व्रत धर्म और अव्रत अधर्म, संयम धर्म और असंयम अधर्म, अहिंसा धर्म और हिंसा अधर्म, आज्ञा धर्म और अनाज्ञा अधर्म के साथ-साथ उन्होंने लौकिक दान और लोकोत्तर दान की भेद-रेखा स्पष्टतः खींची। लौकिक दया और लोकोत्तर दया की भेद-रेखा को प्रस्तुत किया।

आचार्यश्री भिक्षु के ये सिद्धांत निश्चय और व्यवहार, दोनों धाराओं का स्पर्श करते हैं। उनकी दृष्टि में आत्मधर्म व समाज-धर्म का मिश्रण औचित्यपूर्ण नहीं। व्यक्ति समाज में रहता है, अतः सामाजिक दायित्वों का सम्यक् निर्वहन करे—यह व्यवहार के धरातल पर काम्य है। व्यक्ति केवल सामाजिक ही नहीं है, इसलिए आत्म-धर्म भी सर्वथा गौण नहीं है। दोनों की अपनी-अपनी भूमिका है, उपयोगिता है। अपनी-अपनी भूमिका में दोनों कार्य करें—इसी में उनकी मूल्यवत्ता है। आचार्यश्री भिक्षु ने आत्म-धर्म व समाज-धर्म की भेद-रेखा को बड़ी सूक्ष्मता से प्रतिपादित किया। इनकी ये व्याख्याएं पूरे दार्शनिक, धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र में मननीय व आदरणीय हैं।

भिक्षु! एक ऐसा नाम, जिसे सत्य संधित्सु कहा गया। सत्य के लिए किसी बात पर समझौता उनको मान्य नहीं था। रोटी-पानी व मकान की प्राथमिक दुविधाएं उन्हें विचलित नहीं कर सकीं। पद की आकांक्षा व गुरु का मोह उन्हें बांध नहीं सका। किसी ने कहा कि—यदि भिक्षु अपने क्रांतिकारी विचारों को बदल लें, तो समाज उनका सम्मान करेगा, अन्यथा कदम-कदम पर मुसीबतों को झेलना होगा। पर, संघर्षों के भूचाल उनकी दिशा को मोड़ न सके।

आचार्यश्री भिक्षु का साहसिक व फौलादी मन किसी प्रलोभन व आतंक से प्रभावित नहीं हुआ। उनका ध्येय भी तो यही था—**मर पूरा देस्यां, पण आतमा का कारज सारस्यां**—सत्य के प्रति इतना गहन समर्पण जहां होता है, वहां मंजिल व्यक्ति का अवश्य ही स्वागत करती है। ❖

घर–परिवार और मित्र–परिजनों के यहां खुशी के अवसरों पर **जैन भारती** उपहार के रूप में एक वर्ष, तीन वर्ष या दस वर्ष तक भिजवाकर आप आध्यात्मिक–नैतिक मूल्यों के विकास में योगदान दे सकते हैं। जन्म–दिन का उपहार हो या कोई अन्य अवसर, **जैन भारती** अनुपम उपहार के रूप में भेंट के लिए हमें लिखें। आपकी ओर से हम यह कार्य करेंगे।

जैन भारती
एक संपूर्ण पत्रिका है
वैचारिक उन्मेष और परिष्कृत रंजन के लिए
जैन भारती
पढ़ें, सबको पढ़ाएं

व्यवस्थापक
जैन भारती
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
तेरापंथ भवन, महावीर चौक
गंगाशहर, बीकानेर 334401

स्वामीजी उसकी बात सुन कर भौचक रह गए और उन्होंने लड़के से पूछा—'फिर तुम अखबार क्यों बेचते हो?' उसने कहा—'मैं अपने पिता से पढ़ाई का खर्च नहीं लेता। मैं अपने भरोसे पर पढ़ता हूं। अखबार बेच कर स्कूल का खर्च चलाता हूं और अब 600 रुपये मेरे बैंक में जमा हैं।' •

सफलता का मर्म यह है कि हम अपनी रुचि को ऐसा बनाएं कि वह बुराइयों के बीच भलाइयों को ही ग्रहण करे और कीचड़ के गड्ढों की ओर नहीं, स्वर्ग के उपवनों की ओर ही दौड़े।

आप उन्नति कर रहे हैं या नहीं? इस प्रश्न का सही उत्तर यही है कि आप अपनी रुचि, अपनी पसंद को ऊंचा उठा रहे हैं, या नहीं। •

सफलता का रास्ता यह है कि जो भी काम मिले, हम उसे ही मनपसंद बना लें और खुशी से करें। मनपसंद काम मिलना भाग्य या परिस्थिति के हाथ में है, पर हर काम को मनपसंद बना लेना स्वयं हमारे हाथ में है। हम अपना काम करें, तो भाग्य भी अपना काम करेगा, इसका हमें विश्वास रखना चाहिए। •

तीन बाल बोध कथाएं

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

बालकथा

तुम क्या समझते हो मुझे?

स्वामी सत्यदेव परिव्राजक हमारे देश के प्रसिद्ध नेता और हिंदी के प्रसिद्ध लेखक हुए हैं। वे उनमें थे, जिन्होंने गुलामी की नींद सोते भारत को झकझोर कर जगाया। वे भारतीय स्वतंत्रता के एक बड़े सिपाही थे।

उनमें एक बहुत बड़ा गुण था—साहस। वे मजबूत इरादों के बादशाह थे। उन्होंने इरादा किया कि वे अमरीका जाएं, पर उस समय उनके पास 100 रुपए भी न थे। तब खाने के लिए उन्होंने भुने हुए चने ले लिए, जहाज में बर्तन मांजने की नौकरी कर ली और इस तरह अमरीका पहुंच गए।

वहां पहुंच कर उन्होंने घूम-घूम कर खूब अमरीका की सैर की और वहां उन्हें जो अनुभव हुए, उन पर हिंदी

में कई पुस्तकें लिखीं। एक बार उनके मन में आया कि कैलाश-मानसरोवर की यात्रा करनी चाहिए। वे चल पड़े। उन दिनों कैलाश-यात्रा का अर्थ था, मौत की यात्रा। जंगल ही जंगल, पहाड़ ही पहाड़। न रास्ते का पता, न ठहरने, न खाने-पीने का इंतजाम, पर उनमें गजब का साहस था। वे एक ऐसे रास्ते से लौटे, जिससे कभी कोई यात्री नहीं लौटा था। आधे रास्ते चल कर एक ऐसी जगह आई, जहां रास्ता कुल दो फुट चौड़ा, नीचे सैकड़ों फुट का खड्ड कि गिर जाओ तो हड्डी का भी पता न चले, पर इससे गजब की बात यह कि उस छोटे-से रास्ते पर ऊपर पहाड़ से पानी की धार पड़ रही। जमीन पर काई लगी हुई कि पैर रपटने का डर।

उस पानी की धार के भीतर से कोई चार गज तक उस रपटती जमीन पर चलो और जरा भी पैर फिसल जाए, तो मरो उस खड्ड में गिर कर। स्वामीजी अपनी लाठी टेकते हुए उस धार के भीतर से पार हुए, पर पीछे नहीं लौटे। ऐसे साहसी थे—स्वामीजी। मैंने उनसे पूछा—'आपको ऐसी परेशानियों में, भयंकर मुसीबतों में भी यात्रा करते मजा आता है?' कहने लगे—'परेशानी और मुसीबत तो यात्रा के मीठे मेवे हैं। इनसे ही आदमी जीना सीखता है। जो मुसीबत-परेशानी से डरता है, वह कभी भी अपने जीवन का विकास नहीं कर सकता।'

मैंने उनसे पूछा—'स्वामीजी! जीवन की सबसे अच्छी बात आपकी राय में क्या है?' बोले—'जीवन की सबसे बड़ी और अच्छी बात है—अपने ऊपर भरोसा करना।' फिर उन्होंने मुझे अमरीका के एक लड़के की बात सुनाई।

स्वामीजी ने कहा—'मैं अमरीका के बड़े शहर न्यूयार्क में सुबह-ही-सुबह सैर करने जा रहा था। दस-ग्यारह साल का एक लड़का मेरे पास आया और बोला—'भद्र पुरुष, आज का अखबार लीजिए।' मैंने कहा—'मुझे जरूरत नहीं है।' लड़के ने अखबार मेरी तरफ बढ़ाया और कहा—'इसमें बहुत बढ़िया खबरें हैं, दाम भी ज्यादा नहीं है।' मैंने फिर इनकार किया, तो लड़का बोला—'आपकी मर्जी, पर आप अखबार नहीं लेंगे, तो जानकारी में दुनिया से एक दिन पीछे रह जाएंगे।'

स्वामीजी बोले—'मुझे लड़के की यह बात बहुत प्यारी लगी और उस पर दया भी आ गई। मैंने पैसे देकर अखबार ले लिया और कहा—'तुम बहुत गरीब माता-पिता के बालक हो। इसीलिए तुम्हें अखबार बेचने का काम छोटी उम्र में ही करना पड़ता है।'

यह सुनकर वह लड़का नाराज हो गया और उसने पैसे स्वामीजी के ऊपर फेंक कर अपना अखबार उनसे छीन लिया। तब कहा—'आपने मेरा अपमान किया है। मैं इस शहर की नगरपालिका के चेयरमैन का इकलौता बेटा हूं।' स्वामीजी उसकी बात सुन कर भौचक रह गए और उन्होंने लड़के से पूछा—'फिर तुम अखबार क्यों बेचते हो?' उसने कहा—'मैं अपने पिता से पढ़ाई का खर्च नहीं लेता। मैं अपने भरोसे पर पढ़ता हूं। अखबार बेच कर स्कूल का खर्च चलाता हूं और अब 600 रुपये मेरे बैंक में जमा हैं।'

स्वामीजी की बात पूरी हो गई, पर इसका अर्थ क्या है?

यही कि जो खतरों से नहीं डरता, परेशानियों में अपनी राह चलता है और अपने ऊपर ही भरोसा रखता है, वही आदमी सम्मान की और बढ़िया जिंदगी जी सकता है।

स्वर्ग में क्या है?

नारद मुनि दयालु के रूप में प्रसिद्ध हैं। किसी को दुखी देख कर दुखी हो जाते हैं और उसका दुख दूर करने का प्रयत्न करते हैं। जहां वे स्वर्ग में रहते हैं, वहां तो किसी को दुख है ही नहीं। क्योंकि स्वर्ग उस दुनिया का नाम है, जिसमें सुख ही सुख है।

फिर उन्हें दुखी आदमी कहां मिलते हैं? वे मिलते हैं उन्हें हमारी इस दुनिया में। नारद मुनि कभी-कभी स्वर्ग से उठ कर अपनी वीणा बजाते हुए हमारी दुनिया में आ जाते हैं।

एक बार वे हमारी दुनिया में घूम रहे थे। उन्होंने देखा कि एक सूअर कीचड़ में पड़ा है। उन्होंने लाड़-भरे स्वर में सूअर से कहा—'यहां तू बहुत दुखी हो रहा है। न तेरे रहने का ठिकाना है, न खाने-पीने का, न नहाने का प्रबंध। चल, तू मेरे साथ स्वर्ग चल!'

सूअर कीचड़ से निकल कर बोला—'बाबा, तुम्हारा स्वर्ग बहुत अच्छा है? क्या-क्या है तुम्हारे स्वर्ग में?'

नारद मुनि सूअर के भोलेपन पर जोर से हंस पड़े। फिर मीठे स्वर में बोले—'अरे भोंदू, यह क्यों पूछता है कि क्या-क्या है स्वर्ग में? यह पूछ कि क्या नहीं है स्वर्ग में? चल उठ, जल्दी कर—ऐसा अवसर बार-बार हाथ नहीं आता।'

सूअर नारद मुनि के पीछे-पीछे चल पड़ा, पर थोड़ी दूर जाकर उसने पूछा—'बाबा, यह तो बताओ कि तुम्हारे स्वर्ग में कूड़े की कुरड़ियां और लोट मारने के लिए कीचड़ के गड्ढ़े भी हैं या नहीं?'

नारद मुनि ने कहा—'स्वर्ग में कूड़े की कुरड़ियां और कीचड़ के गड्ढ़ों का क्या काम? वहां तो नंदनवन हैं, जिनके फूल कभी नहीं मुरझाते।'

नारद मुनि की बात सुन कर सूअर लौट पड़ा और उसी कीचड़ में घुसते-घुसते उसने कहा—'फिर तुम्हारे स्वर्ग में है ही क्या, जिसके लिए मैं इतनी दूर जाऊं?' नारद मुनि अपनी वीणा बजाते हुए स्वर्ग चले गए और सूअर फिर अपने कीचड़ में लेट गया। उन दोनों की मजेदार बातचीत सुन कर हमारे हाथ क्या आया?

हमारे हाथ आया यह सत्य कि किसी के जीवन को जांचने की कसौटी है—उसकी रुचि, उसकी पसंद। बात यह है कि जो जिसे प्रिय है, उसे ही वह महत्त्व देता है। सूअर ने स्वर्ग की शोभा से अधिक कूड़े की कुरड़ियों और कीचड़ के गड्ढ़ों को पसंद किया। इससे स्पष्ट है कि उसका जीवन कैसा है।

जीवन में आशा के क्षण भी आते हैं और निराशा के भी। प्रश्न यह है कि आप आशा के विचारों को पसंद करते हैं या निराशा के विचारों को। आशा के विचारों को आप पसंद करेंगे, तो आप में आशा का प्रकाश पैदा होगा और निराशा के विचारों को पसंद करेंगे, तो आपको सब जगह निराशा का अंधेरा ही दिखाई देगा। सफलता का मर्म यह है कि हम अपनी रुचि को ऐसा बनाएं कि वह बुराइयों के बीच भलाइयों को ही ग्रहण करे और कीचड़ के गड्ढ़ों की ओर नहीं, स्वर्ग के उपवनों की ओर ही दौड़ें।

आप उन्नति कर रहे हैं या नहीं? इस प्रश्न का सही उत्तर यही है कि आप अपनी रुचि, अपनी पसंद को ऊंचा उठा रहे हैं, या नहीं।

कहानी एक मनपसंद काम की

डॉक्टर विधानचंद्र राय भारत के एक प्रसिद्ध चिकित्सक थे। उन्होंने देश की स्वतंत्रता के संघर्ष में भी भाग लिया था और अनेक कष्ट झेले थे। वे बरसों तक बंगाल के मुख्यमंत्री भी रहे। उन्होंने इस योग्यता और ईमानदारी से शासन का काम किया कि उनके विरोधी भी उनका सम्मान करते रहे। जैसा शानदार उनका जीवन था, वैसी ही उनकी मृत्यु हुई। सुबह उन्होंने अपनी वर्षगांठ मनाई, सबसे हंसी-खुशी मिले और शाम को जब उन्हें एक बड़ी सभा में राष्ट्रपति द्वारा बधाई दी जाने वाली थी, वे बातें करते-करते स्वर्ग सिधार गए। वर्षगांठ का जलसा श्मशान यात्रा के जुलूस में बदल गया।

इन्हीं डॉक्टर विधानचंद्र राय के जीवन की कहानी है कि जब उन्होंने बी.एससी. पास किया तो उनके सामने दो रास्ते थे—एक डॉक्टर बनने का, दूसरा इंजीनियर बनने का। उनके परिवार के लोग चाहते थे कि वे इंजीनियर बनें, पर विधानचंद्र ने मेडिकल कॉलेज में भी भर्ती होने के लिए प्रार्थना-पत्र भेज दिया और इंजीनियरिंग कॉलेज में भी। दोनों कॉलेजों से उन्हें बातचीत के लिए बुलाया गया। वे दोनों जगह बातचीत कर आए।

कुछ दिनों के बाद उन्हें सुबह की डाक से मेडिकल कालेज के प्रिंसिपल का पत्र मिला कि उन्हें भर्ती कर लिया गया है। उन्होंने खुशी-खुशी कह दिया कि मैं अब डॉक्टर बनूंगा और मेडिकल कॉलेज में जाने की तैयारी शुरू कर दी। शाम की डाक में इंजीनियरिंग कॉलेज का भी पत्र आ गया कि उन्हें भर्ती कर लिया गया है। अब चुनाव करना उनके हाथ में था कि चाहे मेडिकल कॉलेज में पढ़ कर डॉक्टर बनें या इंजीनियरिंग कॉलेज में पढ़ कर इंजीनियर। परिवार के बड़ों ने बहुत

जोर डाला कि वे इंजीनियर बनें। पर, उन्होंने कहा—'मुझे पहला पत्र मेडिकल कॉलेज का मिला है, मैं डॉक्टर बनूंगा।'

घर के लोगों ने जिद की। वे नाराज भी हुए, पर विधानबाबू अपनी बात पर अटल रहे और डॉक्टर बन गए। डॉक्टरी के काम में वे इतने सफल हुए कि सारे देश में उनका नाम फैल गया।

उनकी यह कहानी भला क्या कहती है? यही कहती है कि वे डॉक्टर हो गए और बीमारों को दवा देने लगे। ठीक है—वे डॉक्टर हो गए और बीमारों को दवा देने लगे, पर यह ऊपरी बात है। प्रश्न तो यह है कि इस कहानी का भीतरी रहस्य क्या है?

इस प्रश्न का उत्तर एक बार डॉक्टर विधानचंद्र राय ने स्वयं दिया था। उन्होंने कहा था कि मैं इस दिमागी चक्कर को पसंद नहीं करता कि बैठे-बैठे मक्खी मारें और सोचते रहें कि मैं कौन-सा काम करूं। काम करने का सबसे अच्छा तरीका मैं यह सोचता हूं कि जो भी काम हाथ में आए—उसे पूरी ताकत, पूरी योग्यता और पूरी खुशी से किया जाए।

विधानबाबू की बात को समझने की जरूरत है। क्योंकि इसमें सफलता की कुंजी छिपी है। बहुत-से आदमी यह सोचने में समय गंवा देते हैं कि मन-पसंद काम मिलेगा तो करेंगे। सफलता का रास्ता यह है कि जो भी काम मिले, हम उसे ही मनपसंद बना लें और खुशी से करें। मनपसंद काम मिलना भाग्य या परिस्थिति के हाथ में है, पर हर काम को मनपसंद बना लेना स्वयं हमारे हाथ में है। हम अपना काम करें, तो भाग्य भी अपना काम करेगा, इसका हमें विश्वास रखना चाहिए। ❖

महावीर कहते हैं कि वस्तु जो इस क्षण है, वही अगले क्षण नहीं है और फिर भी अपने तात्त्विक रूप में सदा वही है। व्यक्ति जो इस क्षण है, वही अगले क्षण नहीं है, फिर भी तत्त्वतः सदा वही है। आधुनिकता–बोध इसके अतिरिक्त और क्या हो सकता है?

यह जगत दो रूपों में हाथ आता है : कुछ है जो जानता है, कुछ है जो जाना जाता है। कुछ है जो व्यक्ति है, कुछ है जो वस्तु है। व्यक्ति ज्ञाता है, वस्तु ज्ञेय है। एक व्यक्ति भी जब दूसरे व्यक्ति द्वारा जाना जाता है, तो वह ज्ञेय रूप में घटित होता है; यानी जो–कुछ भी ज्ञान का विषय है, ज्ञेय है, वह सब तत्त्वतः वस्तु है। तदगत रूप से, तात्त्विक अर्थ में, ज्ञाता और ज्ञेय, जड़ और चेतन, सभी अंततः वस्तु है, पदार्थ है, प्रमेय है, ज्ञेय है। आधुनिक दार्शनिक भाषा में उसे 'ऑब्जेक्ट' कहते हैं। यहां तक कि आत्मा जब स्वयं अपने को जानता है, तो वह भी अपने ज्ञान का 'ऑब्जेक्ट' बनता है।

इस 'आब्जेक्ट' को महावीर ने पदार्थ कहा है। वस्तु भी कहा है और इसके मौलिक स्वरूप की दृष्टि से अंततः इसे द्रव्य कहा है। द्रव्य की परिभाषा करते हुए कहा है कि : 'सल्लक्षणं द्रव्यं'। यानी द्रव्य का लक्षण सत् है। सत् की परिभाषा करते हुए कहा है कि : 'उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य युक्तं सत्वं'—अर्थात् यह सत् उत्पाद, व्यय, ध्रुव युक्त है। ये तीनों चीजें जिसमें एक साथ, संयुक्त रूप से पाई जाती हैं, वही सत् है, द्रव्य है। वही वस्तु है, वही पदार्थ है। द्रव्य का शाब्दिक अर्थ ही यह है कि वह द्रव है, प्रवाही है, परिणामी है। वह स्थिर, कूटस्थ नहीं है, वह निरंतर गतिमान है, प्रगतिमान है। वह निरंतर परिणमनशील है। उसमें सतत नित–नूतन परिणमन होता रहता है। नित–नूतन परिणाम उत्पन्न होते रहते हैं। लेकिन मूलतः वह ध्रुव भी है : अपने स्वरूप में स्थिर भी है, नित्य भी है। यानी वस्तु अपनी मूल सत्ता में, इयत्ता में अक्षुण्ण है, ध्रुव है, अविनाशी है। उसमें कुछ ऐसा है, जो शाश्वत अस्तित्वमान है। कुछ सतत है, उसी में तो परिणमन संभव है और यह जो शाश्वत, नित्य, अविनाशी स्वरूपात्मक तत्त्व है, वही वस्तु का ध्रुवत्व है। कुछ ध्रुव है, निज स्वरूप में अक्षुण्ण है, कि जिसमें क्षण–क्षण उत्पाद और व्यय घटित होता रहता है। कुछ नित्य अस्ति है कि जिसमें निरंतर उत्पत्ति और विनाश का क्रम जारी है। इस तरह ध्रुव, सर्जन और विसर्जन की समष्टि का नाम ही द्रव्य है। स्थिति और गति, 'अस्ति' (बीइंग) और 'आविः' (बिकमिंग), इन दोनों का संयुक्त रूप ही पदार्थ है। पदार्थों का समुच्चय ही जगत है। सो जगत का भी यही स्वरूप है।

—वीरेन्द्रकुमार जैन

रिश्तों का व्याकरण पृष्ठ 47 का शेष

को ठुकराती ऋचा की व्यापारिक दृष्टि और इन्हें नौकरों में बांट देने की घोषणा करता उसका क्रूर चेहरा—बारी-बारी से मेरी बंद पलकों में तैरने लगता है।

बहुत गहराई तक महसूसता हूं कि मैं किसी धारदार आरे से दो हिस्सों में चीर दिया गया हूं। बीच की दरार निरंतर चौड़ी होती जा रही है। मुझे कोई संभावना नजर नहीं आती कि इस दरार पर अब कोई पुल बन सकेगा। प्यार और स्नेह भरे रिश्तों का व्याकरण जो मैंने पढ़ा है, कंकू काकी ने पढ़ाया है, जो रूपाजीजी और मोहन को शायद कंठस्थ है—चिंदी-चिंदी होकर हवा में उड़ रहा है। मैं इन चिंदियों को बटोरना चाहता हूं, किंतु मेरे हाथ अशक्त हो उठे हैं। मेरे मुंह से दबी-दबी चीख सी निकलती है। ❖

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा

3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001, दूरभाष : 22357956, 22343598, फैक्स : 033-22343666

उपासक प्रशिक्षण शिविर

उपासक प्रशिक्षण शिविर 12 जुलाई, 2009 से 21 जुलाई, 2009 तक

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा द्वारा इस वर्ष उपासक प्रशिक्षण शिविर दिनांक 12 जुलाई, 2009 से 21 जुलाई, 2009 तक लाडनूं में पूज्यवरों के पावन सान्निध्य में आयोजित किया जा रहा है। दिनांक 12 जुलाई 2009 को नए शिविरार्थियों के लिए प्रवेश परीक्षा रहेगी। परीक्षा उत्तीर्ण करने पर ही शिविर में प्रवेश दिया जा - सकेगा। शिविर में आवास व भोजन व्यवस्था निःशुल्क रहेगी। शिविर में प्रवेश की अर्हता इस प्रकार है—

❖ आयु सीमा 25 वर्ष से ऊपर व 60 वर्ष तक ❖ जैन धर्म एवं तेरापंथ धर्मसंघ के प्रति आस्थावान।

❖ अर्हत वंदना, परमेष्ठी वंदना, पंचपद वंदना, पच्चीस बोल, प्रतिक्रमण कंठस्थ। इनकी परीक्षा के पश्चात् ही प्रवेश दिया जाएगा। अतः स्थानीय स्तर पर उनकी तैयारी अपेक्षित है।

❖ चयनित गीतों का लयाभ्यास

1. प्रयाण गीत—प्रभो तुम्हारे··· 2. श्रद्धा विनय समेत···; 3. अणुव्रत गीत–नैतिकता की···;
4. प्रेक्षाध्यान गीत—आत्म साक्षात्कार। 5. तेरापंथ गीत—प्रभो! यह तेरापंथ महान··· ।

❖ परिषद में बोलने एवं गाने की क्षमता अथवा उसके विकास की संभावना।

❖ स्वस्थ एवं श्रमशील, संयम एवं सादगी प्रधान जीवन शैली का अभ्यासी।

❖ प्रतिवर्ष संघ सेवा के लिए दो–तीन सप्ताह का समय देने की स्थिति।

❖ पुरुष एवं महिलाएं, दोनों इस श्रेणी में सम्मिलित हो सकते हैं।

नोट—व्यवस्थागत कारणों को ध्यान में रखते हुए केवल नए शिविरार्थियों व पिछले वर्ष अभ्यासी वर्ग में चयनित न हो सकने वाले उपासकगण व दो बार या अधिक पर्युषण यात्रा कर चुके अभ्यासी उपासक, जो इस वर्ष प्रवक्ता उपासक की परीक्षा देने के योग्य हैं, उनको ही इस शिविर में प्रवेश दिया जा सकेगा।

अधिक जानकारी के लिए उपासक श्रेणी के राष्ट्रीय प्रभारी श्री निर्मलजी नौलखा से 093146 62423 अथवा सह प्रभारी श्री राजेन्द्रजी सेठिया से 094145 09906 तथा श्री विनोदजी बांठिया, संयोजक, उपासक श्रेणी (विकास वर्ष) से 098241 14920 नंबरों पर संपर्क कर सकते हैं।

बिनोद कुमार चोरड़िया
महामंत्री
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कोलकाता

बिनोदकुमार चोरड़िया, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1 के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं प्रेषित और सांखला प्रिंटर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।

।। श्रद्धा नमन ।। ।। अर्हम् ।। ।। पुण्य स्मरण ।।

।। अभय धाम ।।

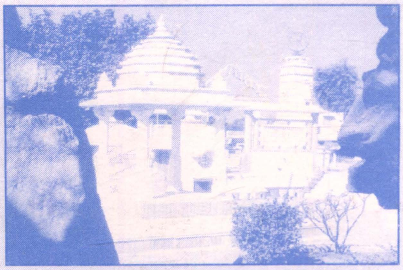

आचार्य भिक्षु अभिनिष्क्रमण स्थल, बगड़ीनगर

'समाज भूषण' 'राजस्थान रत्न' 'तेरापंथ प्रवक्ता' 'तेरापंथ प्रभावक श्रावक'
परम आदरणीय पूज्य पिताजी स्व. मोतीलालजी एच. रांका
स्वर्गारोहण दिवस 19.07.2004

पंचम पुण्य तिथि

पुण्य स्मरण एवं सादर नमन्!

निर्मलकुमार एम. रांका • नरेन्द्रकुमार एम. रांका
उर्मिला जयन्तिलाल पारख • कुलदीप रांका • चेतन रांका
कोयम्बतूर—बगड़ीनगर

MAHAJAN ENTERPRISES
Coimbatore-1
Mobile : 09443250152

SUMANGALAM FABRICS
Coimbatore-1
Mobile : 09894210152

जैन भारती, जुलाई, 2009
प्रेषण दिनांक 28 जून, 09

"Licensed to Post without Pre-Payment" Under Licence No. Tech./W.R./47-2/11/2009-2011 Valid till 31-12-2011

भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पंजीयन संख्या : बीकानेर/048/2009-2011

प्रेषक : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401 • फोन : 0151-2270779

नोट : आपके पते में कोई कमी, अशुद्धि या पिन-कोड नहीं हो तो कृपया सूचित करें। ग्राहक संख्या अवश्य लिखें।